वक्तव्य

हिंदी ही हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा है, इसमें समझदार के लिये संदेह की गुंजाइश नहीं। किंतु स्वार्थ या भ्रम के कारण आज इस संबंध में बड़ा बतंगड़ फैलाया जा रहा है और कुछ लोग 'हिंदुस्तानी' के नाम पर उर्दू को राष्ट्रभाषा बनाने का जी तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। जनता की भाषा हिंदी को वे कल की जबान समझते हैं और कचहरियों में नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा के प्रचलन को किसी विशेष वर्ग के लिये खतरनाक समझते हैं।

लेखक ने इस छोटी सी पुस्तक में बड़ी योग्यता से कचहरियों की भाषा और लिपि के इतिहास का उद्घाटन कर यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि नागरी लिपि और हिंदी भाषा चिर काल से जनता की लिपि और भाषा समझी जा कर दरबारों और अदालतों में प्रयुक्त होती रही है। आज इस सत्य के विरुद्ध प्रचार करना देश के लिये घातक और अंत में असफल प्रयत्न सिद्ध होगा। हमें विश्वास है, भाषा के प्रश्न को सुलझाने में यह पुस्तक बहुत कुछ सहायता पहुँचाएगी।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।	रामबहोरी शुक्ल प्रधान मंत्री

कचहरी की भाषा और लिपि

स्मृतियों और निबंधों में व्यवहार के विषय में जो कुछ कहा गया है उसको ले कर वादविवाद करने का यह अवसर नहीं है। यहां केवल इतना भर जान लेना चाहिए कि पुराने समय में भी हमारे यहां व्यवहार की एक निश्चित और ठोस व्यवस्था थी। मृच्छकटिक नाटक के व्यवहार नामक नवम अङ्क में व्यवहार का जो दृश्य उपस्थित किया गया है वह नित्यप्रति की घटना है, बनावटी या कल्पित कवि की उड़ान नहीं। देखिए, उस समय हमारे यहां व्यवहार की व्यवस्था क्या थी और किस प्रकार की भाषा का उपयोग होता था—

अधिकरणिकः—भद्र शोधनक, बहिर्निष्क्रम्य ज्ञायताम्—'क: क: कार्यार्थी' इति।

शोधनक—जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रम्य) अज्जा, अधिअरणिआ भणन्ति—'को को इध कज्जत्थी' त्ति।

शकारः—(सहर्षम्) उवत्थिए अधिअलणिए। (साटोप परिक्रम्य) हग्गे वलपुलिशे मणुश्शे वाशुदेवे लिटिअशाले ला-अशाले कज्जत्थी।

शोधनकः—(ससंभ्रमम्) हीमादिके, पढमं ज्जेव रट्ठिअसालो कज्जत्थी, भोदु। अज्ज, मुहुत्तं चिट्ठ। दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि। (उपगम्य) अज्जा, एसो क्खु रट्ठिअसालो कज्जत्थी ववहारं उवत्थिदो।

अधिकरणिकः—कथम् प्रथममेव राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी। यथा सूर्योदय उपरागो महापुरुषनिपातमेव कथयति। शोधनक, व्याकुलेनाद्य व्यवहारेण भवितव्यम्। भद्र, निष्क्रम्योच्यताम्—'गच्छाद्य। न दृश्यते तव व्यवहारः' इति।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि त्ति। (निष्क्रम्य शकारमुपगम्य) अज्ज, अधिअरणिआ भणन्ति—'अज्ज गच्छ। ण दीशदि तव ववहारो'।

शकारः—(सक्रोधम्) आः, किं ण दीशदि मम ववहाले। *जइ ण दीशदि, तदो आवुत्तं लाआणं पालअं बहिणीवदि विरा-णविअवहिणिं अत्तिकं च विराणाविअ एदं अधिअलणिअं दूले* फेलिअ एत्थ अराणं अधिअलणिअं ठावइश्शम्। (इति गन्तु-मिच्छति)

शोधनकः—अज्ज रट्ठिअशालअ, मुहुत्तअं चिट्ठ। जाव अधिअलणिआणं णिवेदेमि। (अधिकरणकमुपगम्य) एसो रट्ठिअशालो कुविदो भणादि। (इति तदुक्तं भणति)

अधिकरणिकः—सर्वमस्य मूर्खस्य संभाव्यते। भद्र, उच्य-ताम्—'आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहारः।'

शोधनकः—(शकारमुपगम्य) अज्ज, अधिअरणिआ भण

न्ति—'आअच्छ। दीशदि, तव ववहारो। ता पविसदु अज्जो।

शकारः—पढमं भणन्ति ण दीशदि, संपदं दीशदि त्ति। ता णाम भीदभीदा अधिअलणभोइआ। जेत्तिअं हग्गे भणिश्शम तेत्तिअं पट्टिआवइश्शम्। भोदु। पविशामि। (प्रविश्योपसृत्य) शुशुहं अम्हाणम्, तुम्हाणं पि शुहं देमि ण देमि अ।

अधिकरणिकः—(स्वगतम्) अहो, स्थिरसंस्कारता व्यवहारार्थिनः। (प्रकाशम्) उपविश्यताम्।

शकारः—आं, अत्तणकेलका शे भूमी। ता जहिं मे रोअदि तहिं उपविशामि। (श्रेष्ठिनं प्रति) एशे उवविशामि। (शोधनकं प्रति) मा एत्थ उवविशामि। (इत्यधिकरणिकमस्तके हस्तं दत्त्वा) एशे उवविशामि। (इति भूमावुपविशति)

अधिकरणिकः—भवान् कार्यार्थी।

शकारः—अध इं।

अधिकरणिकः—तत् कार्यं कथय।

शकारः—कण्णे कज्जं कधइश्शम्। एव्वं वड्डके मल्लकश्शमाणहकुले हग्गे जादे।

लाअशशुले मम पिदा लाआ तादश्श होइ जामा
लाअशिआले हग्गे ममावि बहिणीवदी लाअ

अधिकरणिकः—सर्वं ज्ञायते।

कि कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम्।
भवन्ति नितरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः

तदुच्यतां कार्यम्।

शकारः—एव्वं भणामि, अवलद्धाद वि ण अ मे किंपि कलइश्शदि, तदो तेण बहिणीवदिणा परितुस्टेण मे कीलिदुं लक्खिदुं शव्वुज्जाणाणं पवले पुप्फकलण्ड कजिएणुज्जाणे दिण्णे। तहिं च पेक्खिदुं अणुदिअहं शोशावेदुं शोधावेदुं पोत्थावेदुं लूणावेदुं गच्छामि । देव्वजोएण पेक्खामि, ण पेक्खामि वा, इत्थिआशलीलं णिवडिदम्।

अधिकरणिकः—अथ ज्ञायते का स्त्री विपन्नेति।

शकारः—हंहो अधिअलणभोइआ, किंतिण जाणामि। तं तादिशिं णअलमण्डणं कञ्चणशदभूशाणिअं। केण विकुपुत्तेण अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो शुण्णं पुप्फकलण्डकजिराणुज्जाणं पवेशिअ बाहुपाशबलक्कालेण वशन्तशेणिआ मालिदा, ण मए। (इत्यर्धोक्ते मुखमावृणोति)

अधिकरणिकः—अहो नगररक्षिणां प्रमादः। भोः श्रेष्ठिकायस्थौ, न मयेति व्यवहारपदं प्रथममभिलिख्यताम्।

कायस्थः—जं अज्जो आणवेदि। (तथा कृत्वा) अज्ज, लिहिदम्।

शकारः—(स्वगतम्) हीमादिके। उत्तलाअन्तेण विअ पाअशपिण्डालकेण अज्ज मए अत्ता एव्व णिण्णाशिदो। भोदु। एव्वं दाव (प्रकाशम्) अहो अधिअलणभोइआ, णं भणामि, मए ज्जेव दिट्ठा। किं कोलाहलं कलेध। (इति पादेन लिखितं प्रोञ्छति)

अधिकरणिकः—कथं त्वया ज्ञातं यथा खल्वर्थनिमित्तं बाहु-

पाशेन व्यापादिता ।

शकारः—हंहो, शूणं शूलशूणाए मोधट्ठाणाए गीवलिआए णिगुवण्णकेहिं आहलणट्ठाणेहिं तक्केमि ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—जुज्जदि विअ ।

शकारः—(स्वगतम्) दिट्ठिआ पच्चुज्जीविदम्हि । अविद-मादिके ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—भो, कं एसो ववहारो अवलंबदि ।

अधिकरणिकः—इह हि द्विविधो व्यवहारः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—केरिसो ।

अधिकरणिकः—वाक्यानुसारेण, अर्थानुसारेण च । यस्ता-वद्वाक्यानुसारेण, स प्रत्यर्थिप्रत्यर्थिभ्यः । यश्चार्थानुसारेण स चाधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ता वसन्तसेणामादरं अवलम्बदि ववहारो ।

अधिकरणिकः—एवमिदम् । भद्र शोधनक, वसन्तसेनामात-रमनुद्वेजयन्नाह्वय ।

विचारशील व्यक्तियों से अब यह कहने की आवश्यकता न रही कि प्राचीन भारत में व्यवहार की एक निश्चित और ठोस व्यवस्था थी । इनमें से 'अधिकरणिक', 'कायस्थ' और 'शोधनक तो आज भी प्रायः इसी रूप में कचहरियों में दिखाई देते हैं । हाँ उनमें 'श्रेष्ठि' का अभाव अवश्य होता है । पर कभी कभी 'जूरी' के रूप में 'श्रेष्ठि' साहब भी दिखाई पड़ जाते हैं, किन्तु आज वे व्यवहार के एक आवश्यक अंग नहीं रहे । कहने का तात्पर्य यह

कि भारत मे इसलाम के जमने के बहुत पहले से ही हमारे राष्ट्र में व्यवहार की एक निश्चित परिपाटी फलफूल रही थी और अपनी सुखद छाया से सब को मनभाई शांति देती थी। मुसलिम शासन की लपेट मे आ जाने से उसके विधान मे जो परिवर्तन हुए उनके विवेचन की आवश्यकता नहीं। हां, यहां इतना अवश्य जान लेना है कि उस समय हमारी भाषा की क्या अवस्था थी और किस प्रकार वह व्यवहार मे आती थी।

मृच्छकटिक से जो अवतरण ऊपर दिया गया है उसमे कई भाषाओं का प्रयोग हुआ है। अधिकरणिक की भाषा संस्कृत है। संस्कृत ही उस समय की राजभाषा है। इस राजभाषा की विशेषता यह है कि सभी लोग इसे समझ लेते हैं। फिर भी राज्य का सामान्य कार्य इसमे नहीं होता। यही कारण है कि अधिकरण के सामान्य कर्मचारी 'कायस्थ' और 'शोधनक' की भाषा संस्कृत नहीं प्रत्युत शौरसेनी है। शौरसेनी ही उस समय की चलित राष्ट्रभाषा है। वही संस्कृत-की सच्ची सन्तान और सगी है। राजवर्ग के अतिरिक्त अधि-करण के 'कार्य' वर्ग की भी एक भाषा है जो और कुछ नहीं केवल वक्ता की भाषा है। वह कभी देशभाषा, कभी राष्ट्रभाषा और कभी राजभाषा के रूप मे अधिकरण में सुनाई पडती है। उसका व्यवहार वक्ता की शक्ति और सामर्थ्य पर निर्भर है। अत हम देखते हैं कि 'शकार' मागधी का प्रयोग करता है। सारांश यह कि उस समय अधिकरण में तीन प्रकार की भाषाएँ चलती थीं जिन्हें

हम क्रम से राजभाषा, राष्ट्रभाषा तथा लोक या देशभाषा के रूप में पाते हैं।

राष्ट्रभाषा के संबंध में याद रखने की बात यह है कि उस समय उसके दो रूप प्रचलित थे। शिष्ट राष्ट्रभाषा तो वही संस्कृत थी जिसे हम राजभाषा के रूप में देख चुके हैं। अधिकरण में शिष्ट लोग उसी का प्रयोग करते थे। जो लोग संस्कृत भाषण में प्रवीण न थे वे चलित राष्ट्रभाषा अर्थात शौरसेनी का प्रयोग करते थे।

देश में इसलाम के जम जाने से राजभाषा संस्कृत पर भारी विपदा पड़ी। उसकी जगह फारसी को मिल गई। फारसी देश की राजभाषा हो गई और संस्कृत केवल भारतीय शिष्टों की शिष्ट भाषा रह गई। फिर भी मुसलिम शासकों ने सर्वथा उसकी उपेक्षा न की प्रत्युत अपनी राजमुद्राओं पर उसे भी स्थान दिया और महमूद गजनवी से धर्मांध कट्टर मुसलिम शासक ने अपने सिक्कों पर लिखवाया—

"अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद" तथा

"अयंटंकं महमूदपुर घटिते हिजिरियेन संवति ४१८।"

(विशाल भारत, जुलाई, सन् १९३५ ई० पृ० ६८, ६९)

अस्तु, महमूद गजनवी ने जिस वाणी और जिस लिपि का उपयोग अपने उक्त सिक्कों में किया है वह अवश्य ही उस समय की चलित या मानुषी संस्कृत तथा नागरी लिपि है। उसे शिष्ट संस्कृत के साथ मिला कर देखना ठीक नहीं। वह जनता की संस्कृत-वाणी है कुछ पंडितों या वैयाकरणों की शिष्टभाषा नहीं।

महमूद गजनवी के बाद भी सिक्कों पर संस्कृत की झलक बराबर बनी रही और बाद के सिक्कों पर 'श्री' तथा 'हमीर' के साथ विसर्ग का विधान होता रहा। यदि शुद्ध 'भाषादृष्टि' रहती तो कभी 'श्रीः' तथा 'हमीरः' नहीं लिखाया जाता। जो हो आगे चल कर फारसी के अधिक प्रभाव में आने और कुछ कुछ हिंदी जनता के भी अपना लेने से देवनागरी लिपि तथा देववाणी का सिक्कों में सर्वथा परित्याग हो गया और संस्कृत का महत्त्व जाता रहा।

फारसी ने राजभाषा का आसन ग्रहण किया। राजवर्ग की भाषा होने के कारण उसका प्रचार बढ़ा। पर कभी वह भारत की राष्ट्रभाषा न बन सकी। बनती भी कैसे? आखिर उसको अपनाने के लिये कितने लोग उत्सुक थे और कहां तक उसमें बातचीत करने के लिये अभ्यस्त थे। सिकन्दर लोदी के समय में (स० १५१७ ई०) तो फारसी की दशा यह थी—

"जब सुल्तानको नौकरीके लिये फारसीख्वाँ हिन्दुओं की ज़रूरत हुई तो उसने फरमाया—

कुदाम हिन्दू बच्चः ईस्त कि फ़ारसी मी दानद?

"जवाब मिला कि कोई नहीं। तो अव्वल उसने बरहमनों को बुलाकर फ़ारसी पढ़ने की दरख्वास्त की। बरहमनों ने यह अर्ज किया कि महाराज हमको अपने धरम-करम-विद्या से कहां फ़ुरसत है जो फ़ारसी पढ़ें। फिर क्षत्रियों से यही कहा गया तो उन्होंने

कहा कि हम अहले सैफ हैं अहले कलम बनना नहीं चाहते। फिर वैश से यही कहा। उन्होंने कहा कि हम तिजारतपेशः हैं। अपने पेशे को छोड़ कर दूसरा पेशः क्योंकर अख्तियार कर सकते हैं। फिर शूद्रों में से कायतों से जो पहले से संस्कृत की लिखाई की उजरत से औक़ात बसर करते थे यह कहा, तो उन्होंने बमर व चश्म कबूल किया। अपने हाकिमों की ज़बाँदानी के सबब से मुसलमानों के अहद में उनका पहले से ज्यादः उरूज हो गया।" (तारीख़ नस्र उर्दू पृ० २०६ पर अवतरित)

मतलब यह कि अब फारसी की कृपा से मृच्छकटिक के 'क़ायस्थ' जो 'कायत' साहब बन गए और उसी तरह अदालत में हाथ बटाने लगे जैसे पहले कभी, अधिकरण में बटाया करते थे।

सुल्तान सिकन्दर लोदी की अनुकम्पा से हिन्दुओं को फारसी पढ़ने का ख्याल हुआ और कायस्थ लोग 'शीन' 'काफ' की दुरुस्ती में लीन हुए। पर शेष जनता का अभी उससे कोई खास लगाव न था। उसके सारे कामकाज 'भाषा' में ही होते थे। बनिज-व्यापार भी 'भाषा' में ही चलता था। फारसी सिर्फ राजवर्ग की भाषा थी। शाही फरमान उसी में निकलते थे पर प्रजा के शेष काम 'भाषा' में ही होते थे। सरकार भी 'भाषा' के महत्त्व को समझती थी और उसको फूलने-फलने का पूरा मौका देती थी।

अच्छा होगा, उस समय का एक शाही 'इश्तिहार' देख लिया जाय—

"सिद्धिः संवत् १५७० सतरा वर्षे माघ वदी १३ सोमे दिने महाराजा धिराज राज श्री सुलितान महमूदसाहि राज्ये अस्मै दमौव नगरे श्री महाषाएण आजम मलूषां विरा मलूषां मुक्ते वर्तते तत्समये दाम विजाई व मण्डवा व दाई व दरजी ऐ रकमौ जु दमड़ा लागते मीजी व वहदारारण हरवेरिस सालीना ले तो मुमाफिकि ऐ छोड़े जु कोई इस वरिस व इस देश थी इन्ह मह लेहि दमडा पैका मांगे लेई सु अपण दीएा थी वेजाढ़ होइ मुसलमान होइ दमड़ा लेइ तिसहि सुवर की सौंहा हिन्दू होइ लेइ तिसहि गाईकी सौंहा प्रवानगी मलिक सेपण हमनषां भिरव-दाछ्छ सौ कोठवालु सोनिपहजू पलनचिपुरवारे शुभं भवतु।"
(एपिग्राफिया इण्डियका जि० १५ पृष्ठ० २९३ से ना० प्र० पत्रिका भाग ६—संवत् १९८२ पृ० ८ पर उद्धृत)

ठीक इसी समय का एक दूसरा स्वतंत्र उदाहरण लीजिए। एक सती की समाधि पर अंकित है कि—

"सिद्धि संवत १५७० वर्षे त्रिपभ नाम संवत्सरे कार्तिक सुदि ६ गुरौ स्वस्ति श्रीगढ़ गौरि त्रिपय दुर्गे महाराज श्रीराजा श्रामण दासदेव तेकै वर्त्तमाणै स्वस्ति श्री जुभार साह ठाकुर माधव दास के ब्राह्मण पं०देव वम्हरौधिया के जेठोहो पुत्र परोसी सौ ते की महा सती। तेको गातो लिख्यते तेकी डिमा को यह महेस की स्थापणा तथा अमराई ठरंक। ग्रामु भगतदास गातौ उकीरेउ छीत सिंह राज। (ना० प्र० पत्रिका, वही, पृ० ५ पर उद्धृत)

उक्त अवतरणों के विषय में स्वर्गीय डाक्टर हीरालाल का

निष्कर्ष है कि

"यद्यपि यह इश्तिहार मुसलमानी जमाने में उसी कौम के अफसर के द्वारा निकाला गया था, तथापि, उसके नाक और पूछ संस्कृत ही की लगाई गई। लेख की भाषा खिचड़ी है और उसमें गुजराती की बू भरी है। जान पड़ता है कि इसका रचयिता कोई तत्कालीन अधिकारी खेड़ावाल ब्राह्मण था। दमोह में इनकी अधिकता है और यही लोग विशेष धनाढ्य और पढ़े लिखे हैं। जिस साल यह इश्तिहार जारी किया गया, उसी साल एक सती दमोह जिले के ठर्र का गांव में हुई थी। जिसके चौरे के लेख की नकल ऊपर पृ० ५ के फुटनोट में दी जा चुकी है। इन दोनों के पढ़ने से सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा और सरकारी दफ्तरों की भाषा का अन्तर तुरंत दिखाई पड़ेगा। यद्यपि इश्तिहार की भाषा गुजराती मिश्रण से कुछ दूषित हो गई है।" (ना० प्र० पत्रिका, वही, पृ० ९)

हम यहां भाषा की गुत्थियों में उलझना नहीं चाहते, पर प्रसंगवश इतना निवेदन कर देना उचित समझते हैं कि सरकारी दफ्तरों की भाषा में राजभाषा का पुट अधिक होता है और फलतः वह लोकभाषा से कुछ दूर की भाषा होती है। कदाचित् यही कारण है कि आगे चल कर 'हिंदुस्तानी' धीरे धीरे हिंदी से भिन्न एक अलग सरकारी जबान हो गई और बाद में उर्दू का अर्थ देने लगी नहीं तो आरंभ में हिंदुस्तानी का अर्थ हिंदी ही था, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है।

भारत मे 'अकबर' का उदय हुआ। उसकी माया से आसमानी किताब को दुनियावी दिल ने दवा लिया। उसकी नीति ने वह कर दिखाया जो आज तक किसी भी बन्दे से न बन पड़ा। राजपूत दरबारी बनने के लिये लालायित हो उठे। ब्राह्मण 'रत्न' के रूप मे सामने आने लगे। फिर खत्री कब चूकने वाले थे? राजा टोडरमल कुछ और भी आगे बढ़ निकले और फारसी को दरबार से लेकर दफ्तर तक बिछा दिया। सर्वत्र फारसी का बोलबाला हो गया। लोग शौक़ से फारसी सीखने लगे। देखते ही देखते वह भारत की शिष्ट भाषा बन गई। सभी ओर से उसका सत्कार होने लगा। फिर भी अकबर के शासन मे 'भाषा' का महत्त्व कम नहीं हुआ बल्कि स्वयं अकबर के अपना लेने से उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ गई, वह सचमुच भारत की राष्ट्रभाषा बन गई। दक्षिण के बहमनी राज्य मे उसे दफ्तर मे भी जगह मिली और हिंदी हिंद की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई।

अकबर के बाद भी 'भाषा' राजकाज में चलती रही। सच बात तो यह है कि प्रजा ने कभी भी 'भाषा' का पिंड न छोडा। वह प्रतिदिन उसे पुचकारती रही और अपने भावों तथा विचारों से उसके भांडार को भरने में कभी तनिक भी कोर, कसर न की। उसके काम-काज, लेन-देन, बनिज-व्यापार आदि की भाषा वही 'भाषा' थी। फारसी की जरूरत तो तब नजर आती थी जब हुजूर के फरमान निकलते थे, या हुजूर से किसी खास

रहम की हाजत होती थी।

फारसी के साथ ही साथ 'भाषा' भी चलती रही, इसका कुछ पता तो गोस्वामी तुलसीदास के पंचनामे से ही चल जाता है। पंचनामे में संस्कृत, फारसी और 'भाषा' तीनों का विधान है। संस्कृत का प्रयोग तो मंगलार्थ किया गया है। किसी भी मंगल-कार्य का आरंभ बिना किसी देववाणी के मंगलाचरण के कैसे हो सकता है? अतएव आरंभ में संस्कृत का प्रयोग साधु और सनातन है। परमात्मा के अनंतर राजा की दुहाई है। किसी भी समझौते के लिये राजा की संमति अनिवार्य है। बिना राज-संमति के समझौते का महत्त्व मनमाना ही है। इसलिये पंचनामे में फारसी भी राजभाषा के रूप में विराजमान है। फारसी अरबी को पुनीत या देववाणी समझती है। इसलिये उसके साथ 'अल्लाहो अकबर' भी लगा है।

अब पंचनामे के 'भाषा' भाग पर विचार कीजिए। उसमें संस्कृत की छाया साफ नजर आ रही है। मुंशी जी ने उसे परंपरागत परिपाटी के अनुसार लिखा है। बनारसी बोली के बीच बीच में अवधी का रूप दिखाई दे जाता है। कारण प्रत्यक्ष है। अवधी शिष्ट अथवा ठेठ पूर्वीय हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा थी, आज भी ठेठ पूर्वीय हिंदुस्तानी, विशेषतः मुसलमान स्थानीय बोली के अतिरिक्त अवधी का प्रयोग करते हैं। निदान मानना पड़ता है कि 'आग्या' माँगा और 'प्रमान माना' आदि इसी अवधी की व्यापकता के प्रसाद हैं।

पंचनामे में जिस टोडरमल का उल्लेख है उन्हीं के वंश का एक दूसरा प्रमाण लीजिए और देखिए कि उस समय कैसी मिलीजुली भाषा में राजकाज होता था और किस तरह कागद-पत्र लिखे जाते थे। उसका हिंदी अंश है—

"शंवत १७४० समें फागुन सुदी ९ तसुमी (१) पुरुपक (१) करै वीकरै करै करता महराज रघुनाथ सुत वीसेमर राम का पोता वीकरै करता सुरजन शाही कन्हई सुत रामभद्र का पोता वा राजसाही आनंदराम सुत टोडरमल का पोता वा राम-परसाद मचूकर का वेटा रामदास का पोता वा मुसेरा जुझारा का वेटा आंजोचा का पोता दारुल अदालती वलदे महमदावाद उर्फ बनारस मौं हाजीर होई कैकैबयान किया की एक कीता जमीन जो तूल पछीव वा पुरुब लाठा बीस २० वा अरज उत्तर दखीन लाठा २० तीशका मोकमर बीगहा एक १ तीशकी हद-हदूद का वेवरा मेजीव तपसील।

पुरुव मोतसील पछींव मोतसी उत्तर मोतसील दखीन मोत जीमीन वाग कुल बाग नरह-जीमीन मया सील तालाला लहेरा जदू रीगंधी ममहूर वोगैरह सुखाई व रोटा भंटा का वेटा।

"मौजे रोटा भंटा मामुला परगने हवेली महमदाबाद उर्फ बनारस की रकवामें इसके कीसमती बीरादरी हमारे हीशामों हुआ अब ताई हमारे कबुज तसरुफ मों था पहीले इसके महाराज मजकूरने हमारी रजामंदी शो बारह दरखत आवँली वा दस दरखत आवला वा सात दरखत आंवा वा चारी

दग्पत लांबु वो ही जामीन मजकूर मों बैठाया वो ही पर काबीज था अब महाराज मजकूर ने खरीदारी वोही जीमीन की कीया तब वोही जीमीन का मोल करावा मोल भा रजावमंदी तरफएन रुपैआ ५३) मोकरर भा तब हाजीर कोआ भगवती सीवदत्त का वेटा रामदाम का पोता वा वीकरम भरथ का,वेटा कवला का पोता एही गुआही दीया तब सुरजन साही वा राजसाही वा रामपरसाद वा सुमेरा मजकूर इकरार शरई किआ की जीमीन मजकूर वा अमला फगला शुधा रुपैया तीरपन ५३) शीका आलमगीरी वो तन पूरा पर महाराज मजकूर के हाथ बुडा बुडा (१) कै वेचा वेचा रुपैआ मजकूर महाराज सो लेईकै आपने दीशा मोजीब हरीक दाम का वीज मो तमरफ भए चौः सुरजन शाही १३।) राजसाही १३।) रामपरसाद १५॥।=)॥ सुमेरा मजकूर १०॥-)॥ जीमीन मजकूरपर महाराजको काबीज मोतमरफ काया कोई दावागीर पैदा होई तौ वेचवैआ जवाव करै ताः ६ माह रबील औवली सन १०९५......" (ना० प्र० पत्रिका पृ० ११९—२१ सन १८९८ ई०)

औरंगजेब जैसे कट्टर मुसलिम शासक के शासन में भी राष्ट्र-भाषा हिंदी किस प्रकार राजभाषा फारसी के साथ साथ चलती रही इसकी एक झलक मिल गई। अब इतना याद रखे कि—

"वाकआः यह है कि मुसलमान बादशाह हमेशः एक हिन्दी सिकरेटरी जो हिन्दी-नवीस कहलाता था और एक फारसी सिकरेटरी जिसको वह फारसी-नवीस कहते थे रखा करते थे

ताकि उनके एहकाम इन दोनों ज़बानों में लिखे जायं।" (गार्सां द तासी वही पृ० १८)'

भूमिका के रूप में इतना निवेदन कर देने के उपरांत अब हमें देखना यह है कि हमारी उदार अंगरेजी सरकार ने हमारी भाषा के लिये क्या किया, और किस प्रकार उसके उत्कर्ष में अपना हाथ बटाती रही, अथवा किसी कारण विशेष या पेच में पड़ कर अपने सन्मार्ग से विचलित होती रही।

अंगरेजी सरकार के राज्य में भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कायस्थ लोग जिस हिंदुई का प्रयोग करते हैं वह कभी उर्दू न थी। हां, कहीं कहीं राजभाषा के नाते उसमें फारसी की छाप अवश्य है। प्रमाण के लिये एक संवत १८३८ का लेख लीजिए। लेख खंडित होने पर भी महत्त्वपूर्ण है और कचहरी के भाषा का एक जीता जागता दर्पण है। वह है

' "आती आवदीच बीन हजूर वंदगान साहेब वाला मुलाकी व...कर्म साहेब बहादुर के पास अरज इस मजमून की गुजराना कि सदाशिव..... अवदीच के तीन बेटी थी एक हमको दूसरी मंगल जी को तीसरी सदाशंकर ..... कुछ दिन बीते जोशी मजकूर मुए वोन्हके माल मताह अव मिलिकीअत वोन्ह की काबिज रही जोशी मजकूर बरंभ करम में जोग थे बहुल राजा... वोन्हके थे जोशी मजकूर के बेटा न था इस वास्ते वोन्हकी इशत्रीने..........को गद्दी का मालिक किया अव तमाम माल असबाल अपना तीन तीन बेटिओं के......पत्र हिंदुई मो लिख

दीआ हम भांसो में ओ सदाशंकर बिकानेर मों थे इसमें जो··· इसत्री का काशीलाभ भआ पीछे महीना एकके हम भी बनारसं मों आईके सदाशं···उहां सो बुलाआ। तीनों जने एकट्ठा होइके तमाम माल अग्रवाल अपने ससुरका मा·····खने सासके हिस्साकर लीआ औ हम जानशीन गादी के हुए अब आपुस मं. रजावं···खाई लीआ वो लिख दीआ जो जिमीन वा गांव राजा वा जिमीदारों ने न···था वो भी माफिक हीसे के राजोने बाँट दीआ कुछ दीन बीते·····एक वली वो एक बेटा छोड़ीके काशी पावा औ बेटा भी तीन महीना पीछू मुआ सदाशंकर वो मंगल जी झगरा करते हैं कि वरीसा इसत्री का तुमको नहीं पहुँचता इस वास्ते मैं...मेदवार हउ कि वोन्हों को हजूर में बुलाई कै अदालती के रुह् इन्साफ होइ तब हुकुम...है लाला चम्पतराय नायब अमानत औ अदालती के सादिर हुआ कि वोन्ह को...में हाजिर करो बमोजिब हुकुम के मुदई औ मुदाले हजूरमें हाजिर होइके मुकाबीला कीआ सदाशंकर ओ मंगलजी ने जाहीर किआ कि जोरू सुखदेवजी की मुई अब वरीसा का शात्र की रुई सुखदेव जी को नहीं पहुँचता तब साहेबने लाला मौसूफ को हुकुम दीआ कि दूनौ—चलक लिखाई के पंडितों से तहकीक करो कि वरीसा उसका वोन्हों कै पहुँचता है इया सुखदेवजी को पहुँचता है दुनों कचहरी मों हाजिर होइ कै मुचलका लिख कै दादम भट भीखम भट वा नान्हा पाठक वो कीरपानाथ देव पंडितों के पास रुजु भये मुसारुन अलैहों ने हकीकत अपनी पंडीतों सो

जाहीर कीश्रा पंडोतों ने जवाब दीश्रा तुमारी सास ने जीश्रवे श्रपने हीमा फैसला कीश्रा श्रव तुमने श्रापुम मों फारकनी कीश्रा दावा मदाशंकर वा मंगल जी के जोरू का सुखदेव जी के इसत्री के हक पर कुछ नहीं पहुँचता श्राखिरश साहब वा........ मुनाकिच के हुजुर मजलीस हुश्रा पंडीतों ने दलील शासत्र की गुजराना जो सुखदेव जी......के हक पर सदाशंकर वा मंगल जी के इसत्री का कुछ दावा नहीं पहुँच......ने जाहीर कीश्रा कि हमको नहीं पहुँचता तो हम वकोल सुखदेव जो की बेटी के हैं— इ .... वरीसा मां को बेटी को पहुँचता है सुखदेव को नहीं पहुंचैता इश्र बात सुन कै साहब ने पंडि......फरमाश्रा कि ममला इसका शासत्र के रोही दरोइयाफ्त करके हजूर मो श्ररज करो इस . साहेब वाला मुनाकोब नवाब गौवरनर वाहादुर इस तकवाल को गऐ इश्र मुकद . चहरी मो सीपुरद रहा तब चारों पंडीतों ने कचहरी मो जाहिर कीश्रा कि ममला इसका दोनों ने श्रागे लाखाश्राहे ;उसमों मोफसोल लीखा है सो लेइ श्रावो मुकाबीला में......के श्रो पहातों के इजहार मालूम हुश्रा कि श्रागे सदाशंकर श्रौ मंगल जी ने इजहार......जमा पंडीतों के श्रागे कीश्रा था शासत्र के रोइ वरीमा मां की बेटी को पहुंचता है जौ बेटी नई ती बेटा मालिक है तब सुखदेव जी ने मोफसोल हकीकत बश्रान कीश्रा श्रौ मसल ....हा पंडीतों ने जवाब उसका शासत्र सो निकाली कै लीख दिश्रा कि शास्त्र का करू...की बेटे होते जो कुछ माता ने श्रपने बापके घर मो

चोआह के दौन पाश्रा होइ सो पावै अउर माल सभ बेटा का है मगर कीछु हीसा बेटी का भी बशरत कुमारी के पहुचता है जो बीआही होइ तो हक तवाजा के पावै तवाजा खुसी सो है जबरदसती सो नाही है ..सो सुखदेव जी ने अपने बेटी का अपने इमत्रो के जीवते बीआह कर दिआ है इस सुरतमें माफिक दलील पंडोतों के वरीसा मां का बेटे को पहुंचता है बेटे के मरने पीछु बेटे का वरीसा बाप को पहुंचता है पंडीतों ने इयह बात शासत्र रोह सो तहकीक कै कै कहा ता: १५ साबान मन ११९५ हाज़री मोताबीक मन २३ जलुसी संवत १८३८ मीती भादो वदी २ दसखत गीरधारी लाल काएथ गुमासते गानुनगो"

[श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय (गया) के संस्थापक श्रीसूर्यप्रसाद महाजन की कृपा से प्राप्त एक पांडुलिपि की प्रतिलिपि। प्रतिलिपि उक्त पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष ने की है।]

अब अंग्रेजी सरकार की भाषा-नीति को अच्छी तरह समझने के लिये कुछ उस जबान का हाल भी जान लेना चाहिए जो उर्दू नाम से चल निकली है और आज बहुत कुछ सरकार की मामूली अदालती जबान भी हो गई है। उर्दू के विषय मे बराबर यह ध्यान रखना चाहिए कि--

"खुशवयानान आंजा मुत्तफिक शुदः अज जबानहाय मुतअद्दिद अल्फाज दिलचस्प जुदा नमूदः व दर बाजे इबारात व अल्फ़ाज़ तसर्रुफ बकारबुर्दः जबाने ताज़ सिवाय ज़बानहाय दीगर बहम रसानीदंद व बउर्दू मौसूम साख़्तंद।"

अर्थात्—

शाहजहानाबाद मे खुशनयान लोगों ने एकमत होकर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को जुदा किया, कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेर फेर करके दूसरी भाषाओं से भिन्न एक अलग नई भाषा ईजाद की और उसका नाम उर्दू रख दिया। (दरिया-ए लताफत रचनाकाल सन् १८०७ ई०)

सैयद इंशा (मृ० सन् १८१७ ई०) ने इस तरह साफ साफ कह दिया कि उर्दू की हकीकत क्या है और किस तरह वह एक कल की बनावटी ताज. जबान है। इस ताज.जबान की जरूरत क्यों पडी और क्योंकर उसने इस मुल्क की मुल्की जबान के रूप मे सरकारी दफ्तरों मे दाखिल हो वहाँ से भी भाषा को खदेड़ना चाहा आदि प्रश्नों पर विचार करना तो दूर रहा, उलटे सर जार्ज ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानों ने न जाने किस आधार और किस बूते पर घोषणा की कि उर्दू मुगल सामन्तों के कारण देश-विदेश मे फैली और लश्कर* में भिन्न भिन्न

* कहा जाता है कि वस्तुतः उर्दू मंगोल भाषा का शब्द है। तुर्की भाषा में इसका अर्थ होता है लश्कर। उर्दू के इस लश्करी अर्थ के विषय मे याद यह रखना चाहिए कि जब मुगल बादशाह अपनी राजधानी से बाहर किसी पडाव पर होते थे तब उनकी उस पडाव की राजधानी अथवा शाही शिविर को उर्दू कहते थे। कदाचित् यही कारण है कि शाहजहाँ ने अपनी शाहजहाँना-बादी छावनी का नाम 'उर्दू-ए-मुअल्ला' रखा और मीर अमन

जातियों के मेलजोल से पैदा हुई। कहना न होगा कि उक्त विद्वानों के शुद्ध मतिभ्रम का प्रधान कारण है उर्दू भाषा के इतिहास से उनका सर्वथा अनभिज्ञ होना तथा उर्दू के लुगती अर्थ के भ्रमजाल में फँस जाना।

उर्दू की उत्पत्ति (ना० प्र० पत्रिका स० १९९४ वि०) नामक लेख मे यह दिखा देने की कुछ चेष्टा की गई है कि उर्दू का निर्माण किस प्रकार हुआ और किस तरह वह धीरे धीरे फारसी अरबी की मदद से हिंद के मुसलमानों की अदबी जबान बनी। जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि उर्दू का पुराना या पूरा नाम 'उर्दू' 'लश्कर' नहीं बल्कि उर्दू-ए-मुअल्ला यानी शाहजहानाबाद का वह भाग है जिसमें लाल किला और जामा मसजिद आज भी मौजूद हैं। उर्दू-ए-मुअल्ला मे एक उर्दू बाजार भी था जिसकी तबाही का उल्लेख मिरजा गालिब ने अपने पत्रों मे किया है। सारांश यह कि उर्दू का सबंध सीधे लश्कर से न होकर इसी उर्दूए मुअल्ला से है। उर्दू के लोग अपनी जबान की सनद के लिये सदा से उक्त उर्दू-ए-मुअल्ला के ही कायल रहे हैं। होते भी क्यों नहीं! उर्दू-ए-मुअल्ला में दरबार (लाल किला), मजहब (जामा मसजिद), रागरंग (उर्दू बाजार) आदि सभी का विधान था। सभी ने मिल कर उसको सुशोभित किया था।

ने 'लश्कर का बाजार शहर में दाखिल' करा उर्दू को लश्करी और बाजारी बना दिया।

मूल बात, जिसकी उपेक्षा नहीं हो सकती, वह है 'ताजः जबान' की जरूरत। मुसलमानों को हिंद में रहते इतने दिन बीत गए कि उनकी हड्डियाँ तक हिंदी हो गईं। फिर भी उन्हें हिंदी से अलग एक 'नई जबान' बनाने की चिंता क्यों हुई? क्या फारसी और 'भाषा' से अब उनका काम नहीं चल सकता था? निवेदन है, नहीं। क्यों नहीं, इसे भी सुन लीजिए।

औरंगजेब के हाथ मे शासन-सूत्र आ जाने से कट्टरता का उदय हुआ। जीवन से काव्य का नाता टूट गया। फारस के कवियों का आना बंद हुआ। दरबार ने फारसी को सराहा पर उसके साहित्य की कोई चिंता न की। फिर भी गनीमत थी। हिंद की बागडोर तो दिल्ली दरबार के हाथ में थी। फारसी का उपयोग हो रहा था। उसके प्रचार में कोई बाधा न थी। ठीक है, पर औरंगजेब की कट्टरता तथा कूटनीति ने मुस-लिम शासन को तो शीर्ण कर दिया। उसके बाद ही मुगल राज्य छिन्न भिन्न हो टुकड़ों में बँट गया और बादशाह कविता के बहाने दिल बहलाने लगे। अस्तु, हमारा कहना है कि फारसी की अवनति के कारण एक ऐसी जबान की जरूरत पड़ी जो उसकी जगह आसानी से ले सके और शाही शान को भी बहाल रखे। प्रत्यक्ष है कि यह काम 'भाषा' अथवा हिंदी से हो नहीं सकता था। कारण, वह प्रजावर्ग की भाषा थी। उसको अपना लेने से राजा-प्रजा का भेद बहुत कुछ मिट जाता और शाही-शान सर्वथा मारी जाती। निदान इम्तयाजी लोगों की पक्की

इस्तयाज के लिये यह अनिवार्य हो गया कि आपस में मिल जुल कर एक ऐसी नई जबान ईजाद की जाय जो फारसी की जगह शाही जबान हो सके और हमेशा मुसलमानों की कैद में रहे। भूलना न होगा कि यही 'इम्तयाजी' 'ताजः जबान' आज उर्दू के नाम से विख्यात है और अज्ञान अथवा प्रमादवश मेलजोल* की भाषा समझी जा रही है।

हाँ, तो कंपनी सरकार का जिस समय दिल्ली दरबार से साझा हुआ उस समय कुछ जबान की भी बातचीत आई थी। शाहआलम बादशाह को दिखाई दे रहा था कि अब फारसी का अपने पद पर टिका रहना दुशवार है। निदान उन्होंने कंपनी सरकार से वचन ले लिया था कि वह फारसी की रक्षा करेगी और उसके प्रतिकूल कोई कार्रवाई भी न करेगी। (देखिए मुगल और उर्दू पृ० १५०)

---

* उर्दू के संबंध में भूलना न होगा कि इसका मेलजोल वाला अर्थ अत्यंत अर्वाचीन है। डाक्टर गिलक्रिस्ट ने उर्दू को बराबर दरबारी शैली के रूप में ही याद किया है कुछ 'आम फहम' या ठेठ बोलचाल के रूप में नहीं। आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि इस रोशनी के जमाने में भी लोग उर्दू का मनमाना अर्थ कर रहे हैं और न जाने क्यों उसके सही अर्थ को कबूल नहीं कर लेते। कूटनीति के पुजारी कुछ भी कहें पर हमें तो स्पष्ट घोषित करना होगा कि उर्दू सचमुच एक इम्तयाजी जबान है।

कंपनी सरकार शाही जबान अर्थात फारसी के लिये वचन-बद्ध हो चुकी थी फिर भी 'भाषा' से उसका कोई परंपरागत द्वेष न था। फारसी के साथ ही साथ 'भाषा' भी बढ़ रही थी। इसलिये कोई कारण न था कि कंपनी सरकार 'भाषा' का विरोध करती और आर्यावर्त की प्रिय जनता में एक अजनबी जबान का डौल डालती। निदान उसने निश्चय किया कि सरकारी कामकाज में 'शाही जबान' के साथ ही साथ 'लोक-भाषा' को भी टकसाली रखा जाय।

कंपनी सरकार की 'भाषानीति' पर जमकर विचार करने के लिये आवश्यक ही नहीं वल्कि अनिवार्य भी है कि हम यहाँ उसके कुछ आईनों को पेश करें और स्पष्ट दिखा दें कि 'भाषा' के विषय में उसकी नीति क्या थी, अथवा किस प्रकार वह हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि के पक्ष में थी।

कंपनी सरकार का कहना है—

"जीला के फौजदारी के साहेब लोग को लाजीम है के थानेदारि के तहसीलदार सभ वो दारोगा को सनद मैं इस आइन का तरजमा फारसी भाखा वो अछर वो हीनदोसतानी भाखा वो नागरी अछर मे देहि वो उस सनद वो तरजमा के उपर फौजदारिका मोहर वो अपना दसतखत करहि।" (अंगरेजी सन् १८०३ साल ३४ आइन २२ दफा)

'फारसी भाखा वो अछर' के विषय में कुछ विशेष रूप से कहने की जरूरत नहीं है। प्रसंगवश आगे चलकर कुछ इस

संबंध में भी निवेदन कर दिया जायगा। यहाँ हमें जिस विषय की खास तौर से छान-बीन करनी है वह है 'हीनदोसतानी ❀ भाखा वो नागरी अच्छर।'

दुर्भाग्यवश हमारे देश में कुछ ऐसे जीव भी निकल पड़े हैं जो इस 'हीनदोसतानी भाखा' को 'उर्दू जबान का वाचक' समझते हैं और आए दिन अपनी नादानी और गुमराही के कारण हिंदीवालों से बेतरह उलझा करते हैं। उनकी जानकारी के लिये यह निहायत जरूरी है कि हम कंपनी सरकार के मतलब को खोल कर साफ साफ उनके सामने रख दें और उन्हें भी सुझा दें कि इस रोशनी के जमाने में अपनी आँखों से देखना कितना आवश्यक है।

देखिए—

"इस आईन के तीन दफे के जिलों के जज साहिब और

❀ 'हिंदुस्तानी' के विषय में विवाद करना व्यर्थ है। यह एक फारसी भाषा का शब्द है और फारसीयों से ही यूरोपीयों ने भी इस शब्द को सीखा और ठीक उसी अर्थ में प्रयुक्त किया जिस अर्थ में कि फारसी करते थे। हिंदुस्तानी का ठेठ अर्थ है मध्य देश का निवासी अर्थात् ठेठ हिंदुस्तान का हिंदू। आज भी बंगाली तथा महाराष्ट्री इस शब्द का यही अर्थ ग्रहण करते हैं। मुसलमान इसके भीतर इसीलिए नहीं आते कि वे अपने को हिंदी नहीं बल्कि बाहरी समझते हैं। हाँ, बाद में हिंदुस्तानी का अर्थ मुसलमान और उर्दू भी जरूर हो गया।

मजिसटरट माहिब को लाजिम है के जिस वकत इस आईन का फारसी या हींदी तरजमा उनके कने पहुंचे तो उसके तईं अपनी कचहरीयों मे पढवावें और मशहूर करें और इसी तरह से जिन आईनों ने के इस आईन के रू से उपर के जिलों में चलन पाई है उनका तरजमा भी पढवावें और मशहूर करे और ३ दफे के जिलों की दीवानी अदालत के वकीलों को हुकम है के जौनसी आईन के उपर के जिलों की दीवानी अदालत के मोकद्दमों से किसु तरह का इलाका रखता है तो उस आईन के तरजमे की नकल लेकर अपने पास रख छोडें वलके जज साहिब और मजिसटरट माहिबों को यह भी जरूर है के जो नकले सन १८०३ की ४६ आईन की १० दफे के रू से शहरों और अपने जिलों के काजियों को देवें इसी तरह पर छोटे वडे के खबर के लिये मोनसिफों की कचहरियों मे के वे मोनसिफ सन १८०३ की १६ आईन के मोवाफिक ठरे हैं और ऐसे ही तहसीलदार और दारोगों की कचहरियों मे के ३५ आईन के रू से पुलीस का इसतेयार उनको दिया गया है पढ़वावें और मशहुर करावे और जाना जावे के जेतनी आईन के आगे चल के बनेंगी इस कायदे के मोवाफीक इसी तरह पर शोहरत पावेंगी और पाए हुए और फतह किए मूलकों के सब महालों में चलन पावेंगी।"
(अंगरेजी सन १८०५ साल ८ आईन ३१ दफा)

कहा जा सकता है कि उस समय उर्दू जबान को भी हिंदी ही कहते थे क्योंकि फारसी के मुकाबिले में वह भी हिंदी ही

थी। ठीक है, पर हमारा नम्र निवेदन है कि आप स्वतः आईनों का अध्ययन करें और देखें कि बात क्या है। अब तक आपने हिंदी या हिंदुस्तानी भाषा के साथ नागरी अक्षर का विधान देखा है, अब कृपा कर नागरी भाषा और नागरी अक्षर की व्यवस्था भी देख लीजिए—

"किसी को इस बात का उजुर नही होऐ के उपर के दफे का लिखा हुकुम सभ से वाकीफ नहीं है इही ऐक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम है के इस आइन के पावने पर ऐक रोक्‌केता इसतहारनामा निचेके सरह से फारसी वो नागरी भाषा वो अछर मे लीखाऐ कै अपने मोहर वो दसखत से अपने जिला के मालीकान जमीन वो ईजारेदार जो हजुर मे मालगूजारी करता उन सभो के कचहरि मे वो अमानि महाल के टेमि ताहसीलदार लोग के कचहरि मे भी लटकावही · ··· वो कलीकटर साहेब लोग को लाजीम है के ईसतहारनामा अपने कचहरी मो वो अदालत के जज साहेब लोग के कचहरि मे भी तमामी आदमी के बुझने के वासते लटकावही। (अंगरेजी सन् १८०३ साल ३१ आईन २० दफा)

अब इतना मान लेने में तो किसी भी मनीषी को आपत्ति न होगी कि 'तमामी* आदमी के बुझने के वास्ते ही नागरी भाषा

---

* तमामी आदमी को 'आमफहम' भाषा उर्दू न कभी थी और फलत न आज है ही। आज भी अपढ़ जनता में उर्दू फारसी बूझने या 'अरबी छाटने' के रूप में ख्यात है और मुम-

तथा नागरी लिपि की व्यवस्था की गई है। बाद रहे जो लोग इस तमामी आदमी की कैद से बाहर हैं वे फारसी के लिखने-पढ़ने वाले अथवा फारसीदाँ ही हैं। क्योंकि नागरी भाषा और नागरी लिपि के अतिरिक्त जिस भाषा तथा जिस लिपि का उल्लेख किया गया है वह फारसी भाषा तथा फारसी लिपि ही है। यहीं पर भी हिंदी भाषा और फारसी लिपि या 'अछर' का विधान नहीं किया गया है। क्या इससे यह स्वत. सिद्ध नहीं हो जाता कि उस समय कंपनी सरकार के सामने किसी हिंदोस्तानी भाषा और फारसी लिपि के मेल का प्रश्न न था? क्या अब भी यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि उस समय उर्दू जैसी भी कोई चीज 'आम-फहम' थी? जो हो, अभी तो हमें यह दिखाना है कि कंपनी सरकार ने हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि को और भी बढ़ाया है। यकीन न हो तो टुक इधर भी गौर फरमाइए।"

"जो सीटामप सभ के दावे वो जवाव गैरह कागज के ऊपर किआ जाऐगा उसके उपर नीचे का मजमून फारसी भाखे वो अछर वो हीनदवी जूबान वो नागरी अछर में खोदा जाऐगा"

लिम लोकगीतों से उसका कुछ भी संबंध नहीं है। क्या ही अच्छा हो कि मुसलिम लोकगीतों का एक साधु संग्रह कर लिया जाय और फिर स्पष्ट दिखा दिया जाय कि हिंदुस्तान की सच्ची हिंदुस्तानी भाषा का स्वरूप क्या है, किस प्रकार वह उर्दू से सर्वथा भिन्न अथवा एक प्रकार की हिंदी ही है।

(अंगरेजी सन् १८०३ साल ४३ आईन १३ दफा ६ तफसील)

कागज ही नहीं कंपनी सरकार ने टकसाल में भी हिंदी को जमा दिया। वहाँ भी उसको फारसी के साथ जगह मिली—

"उपर का लीखा दफा के सरह के ईसतहार पावने पीछे उसका नकल फारसी भाखे वो अक्षर वो हीनदोसतानी भाखा वो नागरी अक्षर में लीखाऐ के टकसाल के साहेब टकसाल मे आदमी के देखरेख जऐह मे लटकावही" (अंगरेजि सन १८०३ साल ४५ आईन १८ दफा २ तफसील)

तो क्या टकसाल में नागरी को लटकने की ही जगह मिली ? निवेदन है, हरगिज नहीं। उसे सिक्के पर भी आसन मिला। सुनिए कम्पनी सरकार क्या कहती है—

"उपर के लिखे हुऐ पैसे का मंडल अैसा होगा के एक ईंच याने अंगुठे के पहले पोर को २० हिससा फरज करके उसके १९ हिससेका खत उस मंडल को आधो आध कर सकेगा और उस का वजन आठ आने नौ पाई सिकेमर होगा और उस पर नीचे की लिखी ऐबारत फारसी और नागरी* हरफों मे

* बहुत आग्रह करने पर सरकार ने नागरी को फिर सिक्कों पर स्थान दे दिया है पर अभी चाँदी के सिक्कों पर किसी देशभाषा को स्थान नहीं मिला है। यहाँ तक कि उर्दू कही जाने वाली मुल्की जबान को भी चाँदी के सिक्कों पर कोई जगह न मिली, जो लोग 'हरत' और 'चहार' आनः को उर्दू समझते हैं उन्हें गीलट के सिक्कों का अध्ययन करना चाहिए।

जरब की जाएगी।" (अंगरेजी सन् १८०९ साल की १० आइन २ दफा)

मुद्राशास्त्र के प्रेमियों से यह बात छिपी नहीं है कि कंपनी सरकार के उक्त आदेश के अनुसार जो सिक्का बना उसपर नागरी अक्षर तो हैं ही, दोनों तरफ त्रिशूल (हिंदू चिह्न) भी बना है। आगे चल कर कंपनी सरकार के शासन में ही नागरी का बहिष्कार किस प्रकार हो गया इस पर विचार करने के पहले ही कुछ अंग्रेजी और हिंदी के साथ का भी देख लेना चाहिए, जिससे हम आसानी से समझ सकें कि आखिर माजरा क्या है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि कंपनी सरकार सचमुच सच्चा सरकार न थी बल्कि यह देहली के बादशाह की ओर से शासन कर रही थी। निदान उसको भी शाही जबान फारसी ठहरी। वही फारसी जिसकी परवरिश का उसने बीड़ा उठा लिया था। अतएव उसका परम कर्तव्य था कि वह फारसी की मर्यादा को बदस्तूर बनी रहने दे। पर इस कर्तव्य के पालन में सबसे बड़ी अड़चन यह थी कि वस्तुतः वह न तो उसकी प्रजा की भाषा थी और न उसकी निजी अपनी जबान ही। सच पूछिए तो वह बस एक बाहरी लदाव भर थी। इसलिये एक ओर तो वह अपनी

-सदा के लिये नोट कर लेना चाहिए कि सब कुछ होते हुए भी उर्दू फारसी से कुछ भिन्न है। वह शाहों नहीं बल्कि दवैल गुलामों की जबान है।

-मातृभाषा अंग्रेजी को अपना रही थी और दूसरी ओर अपनी प्रजा की भाषा हिंदी को सँवार रही थी। सो किस तरह जरा इसे भी देख लीजिए—

"कलीकटर साहेब को लाजीम है के जेता जलदी हो सकै मोकररी मेआदी बही का नकल अपने दसखत से केआ अंगरेजी वो केआ देसी जबान में बुरड रेवनू के साहेब लोग के पास भेजहि" (अंगरेजी सन १८०३ साल ३१ आईन ३७ दफा) और

"अदालत के जज साहेब लोग वो बरडरेवनू के साहेब लोग वो कलीक्टर साहेब को तमाम ताकीद है के मोकररी मेआदी बही वो दरमेआनी जबनी बही सभके खबरदारी के वासते केआ अंगरेजी या केआ देसी जुबान में होंए तमाम होसीआरी करहि वो उस बही सभ का नकल जो के दफतर में रखा जाए उसके खबरदारी के वासते उसका जीलद अैसे असबाब से तैआर करावही के कीडा ईआ दूसरे सबब से नोकसान नहीं होऐ"। (अंगरेजी सन् १८०३ साल ३१ आईन ३८ दफा)

अंग्रेजी की स्थिति को ठीक ठीक समझने के लिए आवश्यक है कि उसके उपयोग पर ध्यान दिया जाय और कुछ यह प्रयत्न करने की चेष्टा की जाय कि उस समय उसका व्यवहार किस दृष्टि से तथा किस परिस्थिति में होता था। पहले उसे 'देसी जुबान' के प्रसंग में देखिए—

"तब इस मजिसटरट साहिब को चाहिऐ कि उस मोकदमे

में अपनी रुबकारी और गवाहों का असल जवानवदी तरजमे अंगरेजी के साथ उस साहिब के पास जिसको कलारक अफसीकरुन कहते हैं भेज देवें और भी मजिसटरट साहिब को चाहिए के उन जवानवदियों की नकल अंगरेजी जवान के तरजमे सांथ नवाव गवरनर जनरल वहादुर की इततेला के वासते भेज देवे" (अंगरेजी सन १८०६ साल १५ आईन २ दफा)

कहना न होगा कि 'नवाब गवरनर जनरल वहादुर' का जो संबंध अंगरेजी से है वही नवाब साहब का फारसी से। इसलिए—

"इस आईन की फारसी जवान के तरजमे में जो अलकाव और आदाव लिखे गए हैं चाहिऐ के सरकार के अहल कार की तरफ से जब नवाब मनीनेगम साहिब और बबवो बेगम साहिब के नाम में चिटठी लिखी जावे उन चिटठियों में अलकाव और आदाब मजकूर दाखिल किए जावें" (अंगरेजी सन १८०६ साल १६ आईन २ दफा)

मतलब यह कि नवाब साहब की ओर बढ़ने पर फारसी का दखल दिखाई देता है तो नवाब गवरनर जनरल वहादुर के यहाँ अंग्रेजी का राज्य जम रहा है। रही देश की प्रजा की बात, उसके विषय में कंपनी सरकार का विधान है—

'जो कैफीयतें और खत और मुकदमे जमींदारों के तरफ से साहिब मजिसटरट के पास भेजे जावें और अैसही जेतने हुकम और * बातें मजिसटरट साहिब के तरफ से जमींदारों के

पास भेजवाए जावें चाहिऐ के उस खत औ बोली में लिखे जावें जो मोवाफिक वहाँ के चलन के हों (अंगरेजी सन् १८०५ साल १८ आईन ७ दफा २० तफसील)

कंपनी सरकार की भाषा-नीति के संबंध में अब तक जो कुछ कहा गया है,उसका सारांश यह है कि कंपनी सरकार ने एक साथ ही चार भाषाओं को अपनाया, जिनमें से फारसी और अंगरेजी तो स्पष्ट ही विदेशी थीं। देश में फारसी तथा अंगरेजी के व्यवहार का कारण प्रत्यक्ष था। फारसी मुसलिम शासन की राजभाषा थी तो अंगरेजी अंगरेज या कंपनी सरकार की निजी भाषा। कंपनी सरकार के साथ ही वह भी सरकारी भाषा हो गई थी। दूसरी ओर हिंदुस्तानी और देशी भाषा की बात थी। देशी भाषा और हिंदुस्तानी का परस्पर वही संबंध था जो किसी भी देशी तथा राष्ट्रभाषा का होता है। राष्ट्रभाषा के कारण नागरी भाषा तथा नागरी लिपि का व्यवहार व्यापक रूप से हो रहा था,तो देशभाषा के नाते बंगला भाषा तथा बंगला लिपि का भी। बंगला का विधान भी आईनों में इसलिये कर दिया गया है कि वह कंपनी सरकार के केंद्र की भाषा थी। उसी के देश में कंपनी सरकार का अड्डा जमा था। उसकी उपेक्षा किसी प्रकार संभव न थी। वह भी एक बड़े भूभाग की भाषा थी। निदान हम देखते हैं कि—

"जो सीटामप सभके अदालत के कागज के उपर कीआ जाऐगा उसके उपर नीचे का मजमुन फारसी वो बंगला भाखे वो अछर वो हीनदी जूबान वो नागरी अछर में खोदा जाऐगा"

(अंगरेजी सन् १८०३ साल ४३ आइन १५ दफा २ तफसील)

साथ ही अंगरेजी का भी दर्शन कर लीजिए—

"सुपरीनटनडट साहेब को लाजिम है के सीटामप कीआ हुआ कागज सभ अदालत गैरह के दफतर के साहेब लोग ईआ जो कोई के तलब करने का अखतीआर सवै उसके पास सरबराह देने के आगे सरकारि खजाने के सीटामप के उपर अंगरेजि जुबान वो हरफ में टेरेजोरी वो खजाने आमरे का बात फारसी वो बंगला वो हनदी भाखे वो अक्षर में खोदा जाऐगा" (अंगरेजि सन् १८०३ साल ४३ आईन १९ दफा)

जिन विद्वानों ने प्रकृत अवतरणों पर कुछ भी ध्यान दिया होगा कदाचित् उनसे अब यह कह देने की कुछ भी आवश्यकता न रही कि कंपनी सरकार ने हिंदुस्तानी भाषा तथा नागरी लिपि को जो महत्त्व दिया है वह परंपरागत तथा सर्वथा साधु है। उसमें किसी प्रकार के मीनमेष की गुंजाइश नहीं। फिर भी हममें से कुछ ऐसे महानुभाव भी निकल आएँगे जो अब भी हिंदुस्तानी का अर्थ + उर्दू ही करार देने का इसरार करेंगे।

+हिंदुस्तानी का अर्थ उर्दू क्यों हो गया, इसका कुछ विचार अन्यत्र किया गया है। अच्छा हो, यदि इसके लिये पाठक विशाल भारत (फरवरी सन् १९३९ ई०) का 'हिंदुस्तानी' नामक लेख पढ़ें। उसमें उन्हें इसके लिये कुछ सामग्री अवश्य मिल जायगी। यहाँ बस इतना जान लें कि जिस तरह हिंदुस्तान

इसलिये उनसे स्पष्ट निवेदन कर देना है कि तनिक कंपनी सरकार की आईनों का अध्ययन करें और अपने गुमराही उस्तादों की चचकानी बातों को भूल कर स्वच्छ हृदय से सत्य का अनुसंधान करें और फिर देखें कि हिंदुस्तानी, हिंदी अथवा नागरी का अर्थ क्या है। क्यों आईनों में हिंदुस्तानी भाषा और नागरी अक्षरों का विधान प्रायः मिलता है, पर उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि का उल्लेख कहीं दिखाई भी नहीं देता। कारण प्रत्यक्ष है। उस समय उर्दू नाम की कोई देशभाषा न थी। हाँ, दिल्ली दरबार की चलित राजभाषा का नाम उर्दू चल निकला था और वह फारसी के साथ ही साथ दरबारों में चल पड़ी थी। दिल्ली की अपेक्षा लखनऊ में उसका अधिक सरकार हो रहा था और वह धीरे धीरे फैल कर फारसी की जगह चालू हो रही थी। यही कारण है कि कंपनी सरकार ने उसे कचहरियों और कागजों में तो स्थान नहीं दिया, पर कालेजों तथा मदरसों में उसका स्वागत किया और उसके पठन पाठन पर विशेष ध्यान दिया।

उर्दू के परम हितैषी, 'अंजुमन तरक्की उर्दू' के प्राण मौलाना अब्दुलहक ने ठीक ही कहा है कि—

"मैं डाक्टर गिलक्रिस्ट को उर्दू ज़बान का बहुत बड़ा मोहसिन ख्याल करता हूँ। वह न सिर्फ एक तरह से फोर्ट विलियम

हिंदुस्तानियों का नहीं रहा, उसी तरह उनकी 'हिंदुस्तानी' उनकी हिंदुस्तानी नहीं रही बल्कि किसी और की उर्दू हो गई।

कालेज कलकत्तः के कयाम का बाअ़स हुए जिसने उर्दू की बहुत बडी खिदमत की, बल्कि उन्होंने उर्दू की तौसीम व अशाअ़त के लिये बहुत कारामद और मुफीद किताबे लिखीं। मुल्क के काबिल अह्ल ज़बान जमा किए और अपनी निगरानी और हिदायत मे अच्छी अच्छी किताबें लिखवाईं या तरजमः कराई।"

पर इसके आगे जो कुछ वे फरमाते हैं उससे हम सर्वथा सहमत नहीं हैं। उनका कहना है—

"ग़ालिबन् डाक्टर गिलक्रिस्ट ही की सई और असर का नतीजः था कि उर्दू की रसाई सरकार दरबार में हुई और आख़िर सन् १८३२ ई० में फारसी की जगह दफ्तरी ज़बान हो गई।" (उर्दू, अंजुमन तरक्की उर्दू औरंगाबाद, सन् १९२९ ई० पृ० ४९४)

किंतु हम अच्छी तरह जानते हैं कि उर्दू कभी भी सरकार की ओर से दफ्तरी जबान सन् १८३२ या सन् १८३५ ई० में जैसा कि बाद में वे ख्याल करते हैं, नहीं हुई और सच पूछिए तो आज तक भी उर्दू दफ्तरी जबान न हो सकी। क्या कोई भी उर्दू का हिमायती सच्चे दिल से, हक का ख़याल कर के, दावे के साथ कह सकता है कि आज भी कचहरी की जबान वह उर्दू हो पाई है जिसे वह हिंदुस्तानी या 'आमफहम' कहता है? यदि नहीं तो क्यों? सुनिए—

"Persian as the official language was discarded in 1837, and English and the Vernaculars of India put in its place From that date, in every school and court, this change of language served as a constant reminder to the Muslim of the distinct loss that had come to his community and of the fact that he was now among the subject races of mankind. It is true that in the distinctly 'Muslimised' sections of the Country, such as the United Provinces and the Punjab, the newly, developed Indian Muslim language,Urdu, was accepted rather than Hindi as the Vernacular preferred in the Courts. But this offered little Consolation to the wounded feelings of Muslims in the early days, though at the present time it has come to be one of the elements of Muslim culture in India that is most dearly prized by the Community. (Indian Islam, Dr M T. Titus, Oxford university Press 1930, P. 191-2)

अच्छा होगा सन् १८३७ ई० के उक्त विधान ही को देख लिया जाय। वह है—

"His Lordship in Council strongly feels it to

be just and reasonable that those judicial and fiscal proceedings on which the dearest interests of the Indian people depend, should be conducted in a language which they understand That this great reform must be gradual, that a considerible time must necessarily elapse before it can be carried into full effect, appears to his Lordship in Council to be an additional reason for commencing it without delay His Lordship in Council is therefore disposed to empower the Supreme Executive Government of India, and such subordinate authorities as may be thereunto appointed by the Supreme Government, to substitute the Vernacuar languages of the country for the Persian in legal proceedings and in proceedings relating to the revenue It is the intention of his Lordship in Council to delegate the powers given by this Act, for the present only to the Governor of Bengal and to the Lieutenant Governor of the North Western Provinces, and he has no doubt that those high authorities will exercise these powers with that caution which is required at the

first introduction of extensive changes however salutary in an old and deeply rooted system" (Fort William 4 th September, 1837 & Act 29 of 1837.)

कहना न होगा कि उक्त विधान में फारसी की जगह दी गई है भारतीय देशभाषाओं को, न कि दरबारी जबान उर्दू को। देशभाषाओं के विषय में हम पहले ही देख चुके हैं कि आईन में स्पष्ट नागरी भाषा तथा नागरी लिपि एवं बंगला भाषा तथा बंगला लिपि का विधान है, कुछ उर्दू भाषा और उर्दू लिपि का नहीं। परमात्मा ने जिसके मस्तिष्क में थोड़ी सी भी बुद्धि रख दी होगी, वह निहायत आसानी से देख सकता है कि वस्तुत: फारसी की जगह इन्हीं देशभाषाओं को दी गई है। बंगाल में बंगला भाषा तथा लिपि को और पश्चिमोत्तर (युक्त) प्रांत में नागरी भाषा तथा लिपि को फारसी भाषा तथा फारसी लिपि का स्थान मिला है। पर हम देखते क्या हैं कि बंगाल में तो बंगला भाषा तथा बंगला लिपि का प्रचार हो गया, पर पश्चिमोत्तर (युक्त) प्रांत में नागरी भाषा तथा नागरी लिपि का निशान भी मिटा दिया गया। फारसी की जगह किस देशभाषा को मिली, हम आज भी नहीं समझ सकते। हाँ, फारसी लिपि और नागरी अक्षर अवश्य कचहरियों में दिखाई दे जाते हैं, पर हमें कहीं 'हिंदुस्तानी' जबान नहीं दिखाई देती। जो जबान वहाँ कागजों में बरती जाती है वह एक टूटी-फूटी-घिसी-पिटी फारसी

है, जिसके सिर पर अरबी का लदाव है। वह मुसलिम शासन की राजभाषा फारसी से भी अधिक अजनबी और कठोर है। कारण, यहाँ की देशभाषाओं से उसका कुछ भी सहज संबंध नहीं है। अरबी एक बिल्कुल भिन्न भाषा है पर फारसी का मूल देशभाषाओं के मूल से भिन्न नहीं है। इसी अभिन्नता के कारण हम खरी फारसी को सदा से अरबी पर तरजीह देते आ रहे हैं और देश की भाषाओं में अरबी का बेतुका मेल ॐ अच्छा नहीं समझते। हम कह नहीं सकते कि किस न्याय से कचहरी की बनावटी संकर भाषा हमारी भाषा या देशभाषा कही जा सकती है, और उसे बोलने या समझने वाले देश में कहाँ के कितने लोग हैं।

फारसी के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि वह दर हकीकत शाही जबान थी और 'शाह' के नाते से ही कंपनी सरकार में चल रही थी। कंपनी सरकार के साहबों को उसे

ॐ उर्दू की प्रवृत्ति को देख कर यह बरबस मानना पड़ता है कि वह प्रति दिन अरबी की ओर बढ़ती जा रही है। बात यह है कि मजहबी बातें जनता को जितनी भड़का सकती हैं उतनी कोई और नहीं। दुःख तो यह जान कर होता है कि उर्दू में अरबी की बाढ़ प्रसिद्ध राष्ट्रनेता मौलाना अबुल कलाम आजाद के साथ आई और नवाब हैदराबाद की कृपा से चारों ओर फैल गई। इतनी फैल गई कि अब मौलाना आजाद के वश की बात नहीं रही। वह आजाद क्या खुदमुख्तार हो गई।

भी उसी तरह सीखना पड़ता था जिस तरह हिंदी तथा उर्दू को। लोकभाषा होने के कारण हिंदी का अध्ययन अनिवार्य था, पर उर्दू और फारसी का अध्ययन केवल दरबार की दृष्टि से किया जाता था। किंतु कंपनी सरकार की निजी भाषा फारसी नहीं अंगरेजी थी। अंगरेजी में ही उसके निज के काम होते थे और धीरे धीरे वही कंपनी सरकार की राजभाषा हो रही थी। निदान, अंगरेजी को फारसी की जगह मिली और साहबों के पत्र-व्यवहार फारसी की जगह अंगरेजी में होने लगे।

अंगरेजी सरकार सचमुच जिस भाषा को बढ़ाना चाहती थी वह देशभाषा नहीं अंगरेजी थी। उसी अंगरेजी के पनपने के लिये फारसी दफ्तर से निकाल दी गई। फारसी को निकाल फेंकना आसान न था। मुसलिम उसके लिये मर मिटने को तैयार थे और अंगरेजों को नफरत की नजर से देखते थे। सैयद अहमद रायबरेलवी ने तो 'जिहाद' का फतवा दे दिया था और स्वयं सिक्खों से लड़ने के लिये पेशावर पहुँच गए थे। यद्यपि इस धर्मयुद्ध में उनका अंत (सन् १८३१ ई०) हो गया तथापि उनका कट्टर 'मुहम्मदी' तरीका आगे बढ़ा और अंगरेजों तथा हिंदुओं के लिये एक जहमत हो गया। अंगरेजों ने इस अवसर पर कपट और चातुरी से काम लिया और फारसी की जगह दरबारी उर्दू को चालू कर दिया। ध्यान देने की बात है कि जो सरकार पहले नागरी भाषा और नागरी अक्षर का विधान इसीलिये करती थी कि उसकी बातें देश के

जनता के कान तक पहुँच सके, वही अब उर्दू भाषा और फारसी लिपि का सरकार इसलिये करने लगी कि वास्तव में वे ही अब भारत की देशभाषा और देशलिपि हैं। इस घोर अन्याय का अंत यहीं हो जाता तो भी गनीमत थी। पर यारों को इतने से ही चैन न मिला। हिंदी को शिक्षा से भी निकाल बाहर करने का पूरा प्रयत्न किया गया और समय समय पर कुछ सफलता भी मिलती रही।

खैर,अपनी रक्षा और नीति के विचार से अंगरेजी सरकार ने मुनासिब समझा कि देशभाषाओं को फारसी की जगह धीरे धीरे दी जाय। फारसी के दफ्तर से निकल जाने से मुसलमानों की सबसे बड़ी क्षति यह होती कि उनकी शाही शान मिट्टी में मिल जाती, और यदि कहीं उसकी जगह देशभाषा हिंदी को मिल जाती तो फिर और भी गजब हो जाता। प्रजा की भाषा राजा की भाषा को खदेड़ देती। बात तो यही थी,पर स्थिति अपने हाथ में न थी कि फारसी की पूरी पूरी रक्षा हो जाती। निदान उनको 'इम्तयाजी' उर्दू की सुधि आई और उसी को फारसी की जगह देशभाषा के नाम पर कंपनी सरकार के सामने पेश किया। कंपनी सरकार के साहब लिखा पढ़ी के लिये फारसी और बातचीत के लिये उर्दू पहले से ही पढ रहे थे। उर्दू की लिपि भी वही थी जो फारसी की थी। इसलिये उनको यह बात रुच गई और वे भी प्रमादवश उर्दू की दाद देने लगे। हिंदी की ओर से यदि कुछ कहा जाता तो 'धीरे धीरे' का कवच सामने

आ जाता और शिक्षा मे उर्दू का बाजार गर्म होता। उर्दू का प्रचार ही अभीष्ट हो जाता। इतना ही नहीं सरकार की आज्ञा* भी टोकरी में नजर आती और व्यर्थ में कूड़ा करकट बढाकर कचहरी की हवा को गंदी कर देती।

देहली और लखनऊ की तरह फोर्ट विलियम भी अब एक उर्दू केंद्र बन गया था। कंपनी सरकार का सूत्रधार यहीं से अपना नायबी अभिनय करता था। काल पाकर यही अभिनय घटना के रूप में उपस्थित हो गया और भारत का शासन सूत्र सचमुच अंगरेजों के हाथ मे आ गया। पर बादशाह की अधीनता मे उन्हे भी फारसी को अपनाना पड़ा था और उसके पोषण के लिये बहुत कुछ व्यय भी करना पड़ा था। जिस फोर्ट विलियम कालेज की चर्चा ऊपर की गई है उसकी बुनियाद ही इसलिये पड़ी थी कि कंपनी सरकार के साहबों को फारसी अच्छी तरह आ जाय। फारसी पढ़ानेवाले मुंशियों को

---

* बोलचाल या लोकभाषा की दुहाई तो बार बार दी जाती है, पर कभी यह देखने का कष्ट नहीं किया जाता कि आखिर सरकारी दफ्तरों या कचहरियों की भाषा ठीक और बोधगम्य क्यों नहीं हो पाती। कितनी लज्जा और घृणा की बात है कि सरकार चाहती तो है जनमत और लोकभाषा को, पर अपना काम निकालती है जाली और बनावटी चोर-भाषा से—उस चोरभाषा से जिसे केवल 'मौसियाउत भाई' ही समझ सकते हैं।

अंगरेजी का ज्ञान न था और फारसी पढनेवाले साहबों को फारसी का पता न था। इसलिये डाक्टर गिलक्रिस्ट ने (मृ० सन् १८४१ ई०) हिंदुस्तानी को माध्यम बनाया और अपने मदरसे में फारसी और हिंदुस्तानी की शिक्षा देने लगे। उनके अनुरोध से उस समय के गवर्नर जनरल बहादुर मारकीस वेलजली ने फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना (सन् १८०० ई०) किसी प्रकार कर दी और उन्हें उसमें हिंदी अध्यापक नियत कर दिया। याद रहे इस कालेज की अध्यापकी केवल उन्हीं सज्जनों के लिये सुरक्षित थी जो सच्चे ईसाई ही नहीं बल्कि इंगलैंड के चर्च के भक्त भी थे और भारत में ईसाई मत की हिमायत भी कर सकते थे।

डाक्टर गिलक्रिस्ट की दृष्टि में हिंदी के उस रूप को महत्त्व मिला, जिसे वे 'मुंशी रूप' * कहा करते थे। उनके विचार में

---

* डाक्टर गिलक्रिस्ट की दृष्टि में एक ही 'भाषा' के तीन रूप थे। उन्हीं रूपों की चर्चा उन्होंने बार बार की है। उर्दू-रूप का प्रचार तो दरबार में था और मुंशी रूप का व्यवहार मुंशी लोगों के कामधधों में होता था। रही ठेठ रूप की बात। उसका प्रचार जनसामान्य में था और सभी हिंदुस्तानी उसको बोलते चालते तथा समझ लेते थे। डाक्टर गिलक्रिस्ट का काम साहबों को साहबी के लिये तैयार करना था, जिसके लिये मुंशी शैली अनिवार्य थी। न जाने कब तक लोग उन्हें शुद्ध हिंदी का जन्मदाता मानते रहेंगे।

मध्यमार्ग का अवलंबन ही श्रेष्ठ था। इनको इस बात का दुःख था कि व्रजभाषा के साथ ही साथ खड़ी बोली या ठेठ भाषा का भी बहिष्कार कर दिया गया; क्योंकि लोकहित के लिये उसे ही वे उचित समझते थे। अच्छा होगा, इसे उन्हीं के मुँह से सुन लीजिए—

"I very much regret that along with the Brij Bhasha, the Khuree bolee was ommitted since this particular idiom or style of the Hindoostanee would have proved highly useful to the students of that language" (The Oriental Fabulist. 180-3 P. V.)

डाक्टर गिलक्रिस्ट जिस ठेठ अथवा खड़ी शैली के भक्त थे उसका बहिष्कार दिल्ली दरबार कुछ पहले ही कर चुका था। दूसरे उसके आधार पर फारसी का अध्यापन भी कठिन था। उसके लिये दरबारी अथवा उर्दू शैली का स्वागत अनिवार्य था। फिर भी डाक्टर गिलक्रिस्ट ने राजा और प्रजा में संधि स्थापित करने के लिये बीच की 'मुंशी शैली' अथवा 'रेख़्ता की बोली' को महत्व दिया।

फोर्ट विलियम कालेज (सन् १८०० ई० में स्थापित) मे डाक्टर गिलक्रिस्ट अधिक दिन तक न टिक सके। उनके विलायत वापस जाने के बाद (सन् १८०४ ई०) 'कप्तान जिमिस मोअट साहिब' उनकी जगह 'मुदर्रिसि हिंदी' नियुक्त हुए।

उनके समय में वैताल पचीसी का संशोधन किस दृष्टि से हुआ इसे भी देख लीजिए। उसके लेखक मजहर अली खाँ 'विला' किस शान से फरमाते हैं—

'इब्तिदाय दास्तान यों है, कि मुहम्मदशाह बादशाह के जमाने में, राजा जैसिंह सवाई ने, जो मालिक जैनगर का था, सूरत नाम कविश्वर से कहा कि वैताल पचीसी को, जो जबान संस्कृत में है, तुम ब्रज भाषा में कहो, तब उसने बमूजिब हुक्म राजा के, ब्रज की बोली में कही, सो अब शाहिआलम बादशाह के अहद के बीच, और असर में अमीरुल उमरा जुब्दए नोई-नानि अजीमुश्शान, मुशीरि खास शाहि कैवास बारगाहि इंगलिस्तान, अशरफुल अशराफ मारकुइस वलिजली गवरनर जनरल बहादुर (दाम मुल्कुहु) के, मजहर अली खानि शाइर ने, जिसका तखल्लुस विला है, वास्ते मीख्ने समझने साह-बानि आलीशान के, बमूजिब फरमाने जनाब जान गिलक्रिस्त साहिब (दाम इकबालुहु) के, जबानि सहल में, जो खास ओ आम बोलते हैं और जिसे आलिम वो जाहिल गुनी कूढ़ सब समझें, और हर एक की तबीअत पर आसान हो, मुश्किल किसी तरह की ज़िहन पर न गुज़रे, और ब्रज की बोली अक्सर उसमें रहे, श्रीलल्लू जी लाल कवि की मदद से बयान किया था।"

यह तो हुई 'जान गिलक्रिस्त साहिब' के समय याने सन १८०१ ई० की बात। अब जरा 'रिमिस मोअट साहिब' के

जमाने याने सन् १८०५ ई० की दास्तान सुनिए—

'फ़िलहाल, मुवाफ़िक इरशादि मुदर्रिसि हिंदी खुदावंदि निअमत जनाब कप्तान जिमिस मोअट साहिब (दाम इक बालुहु) के, तारिणीचरण मित्र ने, छापे के वास्ते, संस्कृत और भाषा के अलफ़ाज़ को जो रेख़ते के मुहावरे में कम आते हैं, निकाल कर मुरव्वज अलफ़ाज़ को दाखिल किया, मगर बअजे लफ्ज़ हिंदूओं का, जिसके निकालने से खलल जाता, बहाल रखा, उम्मेद है कि हुस्नि कबूल पावें"

(मुकद्दम The Baital Pachisi, by Duncan Forbes, L L D, W H Allen, And Co London 1857)

इस लंबे अवतरण की आवश्यकता इस प्रसंग में इसलिये पड़ी कि कहीं आप भी उस व्यापक भ्रम के शिकार न हो जायँ जिसके नामी पेशवा डाक्टर अब्दुल हक़ ने अभी उस दिन यह दावा पेश किया है कि—

"फोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों ने (ख़ुदा उनकी अरवाह को शरमाए) बैठे बिठाए बिला वजह और बगैर ज़रूरत यह शोशा छोड़ा। लल्लूजी लाल ने जो उर्दू के जबाँदाँ और उर्दू किताबों के मुसन्निफ़ भी थे, इसकी बिना डाली। वह इस तरह कि उर्दू की बाज़ किताबें लेकर उन्होंने उनमें से अरबी, फ़ारसी लफ्ज़ चुन चुन कर अलग निकाल दिए और उनकी जगह संस्कृत और हिंदी के नामानूस लफ़्ज़ जमा दिए, लीजिए हिंदी बन गई।" (उर्दू, अंजुमन तरक्की उर्दू, औरंगाबाद,

(दकन अपरैल सन् १९३७ ई०, पृ० ३८३)

अब आप स्वतः आसानी से समझ सकते हैं कि वास्तव में मामला क्या है। क्यों मजहर खाँ विला कहते हैं कि संस्कृत और भाषा के अल्फाज को निकाल बाहर किया और उनकी जगह 'मुरव्वज' याने अरबी फारसी शब्दों को जड़ा और डाक्टर मौलाना अब्दुल हक * फरमाते हैं कि अरबी फारसी लफ्जों को चुन चुन कर निकाला और उनकी जगह 'संस्कृत और हिंदी के नामानूस लफ्ज जमा दिए। आप की सुविधा के लिये हम इतना और निवेदन कर आगे बढ़ना चाहते हैं कि नासिख (मृ० १८३८ ई०) ने "मुहावरात व रोजमर्रः की छानबीन की और जन व मर्द के मुहावरह में फर्क किया और अवाम व खवास के बोलचाल में अलहदगी की। चूँकि इसमें हर शख्स को दखल देना मुश्किल था इसलिये असूल इसका यह रखा कि

* खेद है कि 'हिंदुस्तानी' के प्रसिद्ध प्रेमी और 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' के चिर मंत्री डाक्टर ताराचंद जी भी इधर उक्त मौलाना की हाँ में हाँ मिलाने लगे हैं और चंद 'गलतफहमियों' को दूर करने में स्वतः भयंकर भ्रमभूलों के शिकार हो गए हैं। इसका मुख्य और प्रधान कारण यह है कि अभी वहुतों का भाषा संबंधी बचपन बदस्तूर बना है और फलतः आज वे उन्हीं दिनों की बातों को प्रमाण क्या, ध्रुव सत्य मानने के लिये विवश हो रहे हैं।

फ़ारसी और अरबी * अल्फ़ाज़ जहाँ तक मुफ़ीद माने मिलें हिंदी अल्फ़ाज़ न बाँधो। इस सबब से खवास को फ़ारसी अरबी की तरफ़ तवज्जह ज़रूर हो गई।" (तज़्करह जलवह् खिज़्, जिल्द दोअम, सफीर, नूरुल अनवार, आरह सन् १८८५ ई० पृ० ८४ नोट)

परिणाम इसका यह हुआ कि

"नस्रवालों ने नस्र की,नज़्म वालों ने नज़्म की दुरुस्ती की। सरकारी स्कूलों में बावजूद क़वायद गिलक्रिस्ट और दरिया-ए-लताफ़त के नई किताब क़वायद उर्दू में 'नासिख़' के असूल पर लिखवाई गई। अह्ल अख़बार ने अपने अपने मुक़ाम पर इबारत का ढंग दुरुस्त किया। ग़र्ज़ सब एक ही रंग में डूब गए।" (वही पृ० ४६३)

और गार्सां द तासी जैसे कट्टर उर्दूपरस्त मर्मज्ञ को कहना पड़ा कि—

"सर्फ़ व नहो के एतबार से उर्दू ज़बान ईरानी है और

* देखा आपने ? यह है नासिख़ी उर्दू का तर्ज़ जिसके लिये हमारे सर तेजबहादुर सप्रू जैसे धुरंधर वकील हैरान हो रहे हैं और प्रमादवश इसी को 'आम फ़हम' करार देते हैं। करें क्या ? शिक्षा और संस्कार के जाले को फाड़ कर बाहर निकल आना उनके अधिकार की बात नहीं है। फिर भला उस आरंभिक पाठ को भुला कैसे दें, जिसकी शिक्षा बचपन में किसी मौलवी साहब से उन्हें मिली थी।

अल्फाज के एतबार से सामी।" (खुतबात गार्सा दतासी, अंजुमन तरक्की उर्दू, औरंगाबाद (दकन) सन् १९३५ ई० पृ० ३६५)

कहने का तात्पर्य यह कि उर्दू 'हिंदी' न रह कर 'फारसी-अरबी' हो गई और फोर्ट विलियम अथवा अंगरेजी सरकार ने उसी तरह उसको बढ़ावा देना आरंभ कर दिया जिस तरह इसलामी सरकार देहली और लखनऊ में दे रही थी। यही क्यों ? अंगरेजी सरकार ने तो कुछ और भी बढ़ कर काम किया और कचहरी से मदरसे तक हिंदी जनता के लिये उर्दू का जाल, अपनी उदारतावश, बिछा दिया। फिर हिंदी के कर्णधार कूदते-फांदते और चिल्लाते नहीं तो और क्या करते ? क्या इस फारसी-अरबीमयी उर्दू को अपनी मादरी जबान मान लेते और अपनी भाषा तथा राष्ट्रभावना को सर्वथा लुप्त हो जाने देते ? क्या ऐसी घोर परिस्थिति में सरकार से न्याय के लिये प्रार्थना करना भी अपराध है ? क्या अपने अधिकार की कामना भी पाप है ? यदि नहीं, तो सैयद अहमद खाँ बहादुर के इस अमर्ष का क्या अर्थ—

"मुसलमानों के हक़ में अब यह बात मुफ़ीद नहीं है कि कोई अम्र उनके फायदह और उनकी हालत के मुनासिब किया जाये बल्कि तमाम अमूर उनकी हालत और फायदह के बरखिलाफ़ होने उनके हक़ में निहायत फ़ायदह बख़्शेंगे। हमारी राय यह है कि तमाम देहाती और तहसीली मकतब बिल्कुल

हिंदी और नागरी कर दिए जावें, तमाम अदालतों की जवान और खत बिल्कुल हिंदी और नागरी कर दिया जावे ताकि मुसलमानों की हालत ऐसी अबतर और खराब हो जावे कि उनकी तमाम चीजें और तमाम जरूरियाते बिल्कुल नेस्त और नाबूद हो जावें और किसी किस्म का रोजगार उनको मुयस्सर नहीं।" (रुयदाद इजलास, मेडिकलहाल प्रेस, बनारस, सन् १८[illegible] ई० पृ० २९)

सैयद अहमद खाँ बहादुर के प्रकृत प्रकोप का कारण है—

"एक और मुझे खबर मिली है जिसका मुझको कमाल रंज और फिक्र है कि बाबू शिवप्रसाद साहब की तहरीक से अमूमन हिंदू लोगों के दिल में जोश आया है कि जबान उर्दू व खत फारसी को जो मुसलमानों की निशानी है मिटा दिया जाय। मैंने सुना है कि उन्होंने * साइंटफिक सोसाइटी के हिंदू मेम्बरों से तहरीक की है कि बजाय अखबार उर्दू हिंदी हो,तरजमा कुतुब

---

* सैयद अहमद खां बहादुर ने उक्त सोसाइटी की स्थापना सन् १८६३ में की। इसका श्री गणेश तो गाजीपुर में किया गया पर पालन पोषण अलीगढ़ में हुआ, कहना न होगा कि दर हकीकत यह वह सोसाइटी है जिसके एक मेम्बर ने यहाँ तक प्रस्ताव कर दिया था कि 'मुल्की जबान' उर्दू में से टवर्ग तक निकाल दिए जायँ। उनका एकमात्र अपराध शायद यह था कि उनका अरबी या फारसी में प्रचार न था।

भी हिंदी में हो। यह एक ऐसी तदबीर है कि हिंदू मुसलमान में किसी तरह इत्तफ़ाक नहीं रह सकता। मुसलमान हरगिज हिंदी पर मुत्तफ़िक़ न होंगे और अगर हिंदू मुस्तैद हुए और हिंदी पर इसरार हुआ तो वह उर्दू पर मुत्तफ़िक़ न होंगे और नतीजः इसका यह होगा कि हिंदू अलहदः मुसलमान अलहदः हो जावेंगे। यहाँ तक तो कुछ अन्देशः नहीं। बल्कि मैं समझता हूँ कि अगर मुसलमान हिंदुओं से अलहदः हो कर अपना कारोबार करेंगे तो मुसलमानों को ज्यादह फायदह होगा और हिंदू नुकसान मे रहेंगे।" (मक़तूत सर सैयद, सैयद रास मसूद, निज़ामी प्रेस बदायूँ, सन् १९२४ ई०, पृ० ८८-९)

बाबू शिवप्रसाद का अपराध था—

"The Government voting that English is not the language for the masses, are thus unconsciously forcing another foreign language namely Persian, or I may say Semi-Persian, the Urdu in Persian Characters, upon the helpless masses, in fact doing whatever the Muhammadan Emperors of Delhi never thought to do. I see in all the Village Schools called Tahsili and Halkabandi, Persian is now taking the place of the Hindi and those which are still left Hindi are looked down upon as worthless...........The Persian of

our day is half Arabic........ leaving the question of nationality and evils aside, the inconvenience which arises in the formation of Vernacular literature by cutting it as under from the other branches such as Bengali, Maharastri and Gujrati of the Aryan family of language and crippling over resources, is so great, that only of the responsibility of estranging the people of the N W. P and Oudh and the Punjab from those of Bengal, the Central Provinces and the Bombay Presidency, where Government allows the Aryan offsprings just named above, still to live in peace by imbuing the former with new, namely, the semetic element, ought to make any Government if not shrink, at any rate, reflect before they commit themselves irrecoverably. It is very easy for Hindi, Bengali, Gujrati and maharastri books, to be translated from one into the other, the scientific and the technical terms being just the same, but as soon as we come to the Urdu we must call in the assistance of Arabic, and open over Qamus and Bacham Qati. How easy it is to

form scientific and technical terms from sanskrit roots, I refer to the works of Dr. Ballantyne, whereas the Arabic does not afford the same facility

I pray that the Persian letters may be driven out of the courts as the language has been, and that Hindi may be substituted for them" (Memorandum, 1868)

Quoted in Court Character, 'Indian Press, 1897, P. 73, (Appendix)

स्पष्ट है कि बाबू शिवप्रसाद साहब उर्दू भाषा का विरोध नहीं बल्कि नागरी अक्षर का प्रचार और अरबियत की रोक चाहते थे। उनका कहना है—

"पस उर्दू याने हाल की हिंदी या हिंदुस्तानी की जड़ हम ही * लोग हैं अगर ये सब परदेसी हमारे इस जमाने की

---

* उक्त बाबू साहब पर भी वही बचकानी बात हावी है। उनकी समझ में यह न आ सका कि प्रशाद, लाल और जात (जाति) आदि किस भाषा के शब्द हैं और क्यों हमारी 'हाल को हिंदी या हिंदोस्तानी' में 'प्रसाद' 'लाल' और 'जाति' नहीं लिखे जाते; क्योंकि यही उनका शुद्ध या साधु रूप है। बात यह है कि अभी हम लोगों ने अपनी मुल्की जबान

बोली की जड होते तो उसमें हमको फारसी अरबी अंगरेजी के गलत लफ्जों के बदले अपने देसी अल्फाज गलत और कुछ के कुछ जैसा उन्हें वे परदेसी तलफ्फुज करते हैं मिलते। गर्ज मौलवी और पंडित दोनों की यह बडी भूल है कि एक तो सिवाय फेल और हरफों के बाकी सब अल्फाज सहीह फारसी अरबी के काम में लाना चाहते हैं और दूसरे सहीह पाणिनी की टकसाल के खुरखुरे संस्कृत गोया यह जो हजारों बरस से हम ही लोग हजारों हालतों के बाअस हजारों तबद्दुल व तगैयुर अपनी जबान में करते चले आए हैं, वह उनके रत्ती भर भी लिहाज के काबिल नहीं।......हिंदी जबान का फारसी अरबी तुर्की और अंगरेजी लफ्जों से खाली करने की कोशिश वैसी ही है जैसे कोई अंगरेजी को यूनानी, रोमी, एलमानी वगैरह परदेसी लफ्जों से खाली करना चाहे।" (उर्दू सर्फ वो नहो, मतबा मुंशी नवल किशोर सन् १८७० ई० पृ० १२०-१)

और—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पडे चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आमफहम और खास-पसंद हों अर्थात जिनको जियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढे लिखे, आलिम फाजिल, पंडित, विद्वान् की बोल चाल में छोडे

उर्दू का उद्घाटन अच्छी तरह नहीं किया। फिर भ्रम के शिकार क्यों न हों? क्यों न उसे अपनी 'मादरी जबान' मान लें?

नहीं गए हैं, और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज़ ग़ैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल क़ायम करके नए-नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएँ, जब तक कि हम लोगों को उसको जारी करने की जरूरत न साबित हो जाय।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, राचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० सभा, पृ० ५११ पर अवतरित)

अस्तु, बाबू शिवप्रसाद जी के उक्त विचारों में कहीं इस बात का संकेत भी नहीं है कि 'ज़बान उर्दू व खत फारसी को जो मुसलमानों की निशानी है मिटा दिया जाय' बल्कि उनमें स्पष्ट कहा गया है कि भाषा 'आमफ़हम और ख़ास पसंद' हो। उसमें फारसी, अरबी, अंगरेजी आदि विदेशी भाषाओं के उन शब्दों का भी विधान हो जो 'आमफ़हम' हो गए हैं। फिर भी सैयद अहमद ख़ाँ बहादुर उनपर लांछन लगाते और दिलेरी के साथ कह बैठते हैं कि वे 'मुसलमानों की निशानी' को मिटाना चाहते हैं। क्यों? सबब इसका ग़ौर से सुनिए—

"इंसान जब हर तरफ से मायूस हो जाता है तो मजहब की पनाह ढूँढ़ता है। मुसलमान दौलत व इकबाल, जाह व सर्वत सब कुछ खो चुके थे। एक मजहब रह गया था। इस लिये यह उन्हें और भी अज़ीज़ हो गया था। जरा सी बद-गुमानी पर भी उनके जज़बात भड़क उठते थे। उस वक़्त शायद ही कोई ऐसा मुसलमान मुसन्निफ या अदीब हो जिसने

मजहब पर कलम फरसाई न की हो। यहाँ तक कि वह लोग जिन्हें मुसलमान नेचरी कहते थे और अपने ख्याल में बद-मज़हब व बदअक़ीदह समझते थे उनका ओढ़ना बिछौना भी मजहब था। सर सैयद तो खैर उनके सरदार ही थे, उनके हलके के दूसरे रुक्न भी मसलन् नवाब मुहसेन मुल्क, हाली, मौलवी मुश्ताक हुसेन, शिबली, चिराग़ अली, नजीर अहमद वग़ैरहुम ख्वाह कुछ ही लिखते लेकिन तान मजहब ही पर टूटती थी।" (तजकिरह मुहसेन, मुहम्मद अमीन जुबैरी, जामा घरकी प्रेस देहली, सन् १९३५ ई० पृ० २९९)

इस मजहबी तान को अच्छी तरह समझने के लिये हमें सर सैयद के निम्नलिखित उद्‌गारों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए और यह स्वतः समझ लेना चाहिए कि वास्तव में मामला क्या है और क्यों सैयद अहमद खाँ बहादुर उर्दू जबान और फारसी खत को 'मुसलमानों की निशानी' समझते हैं। उनका दावा है—

"इंग्लिश नेशन हमारे मफतूह मुल्क में आई, मगर मिस्ल एक दोस्त के न बतौर एक दुश्मन के। हमारी ख्वाहिश है कि हिंदुस्तान में इंग्लिश हुकूमत सिर्फ़ एक ज़मान ए दराज तक ही नहीं बल्कि इटर्नल होनी चाहिए। हमारी यह ख्वाहिश इंग्लिश क़ौम के लिये नहीं है बल्कि अपने मुल्क के लिये। हमारी यह आरज़ू अंगरेजों की भलाई या उनकी खुशामद

की वजह से नहीं है बल्कि अपने ※ मुल्क की भला
बेहतरी के लिये है। पस कोई वजह नहीं है कि हममें
उनमें सिम्पथी न हो। सिम्पथी से मेरी मुराद पोलिटि
सिम्पथी नहीं है। पोलिटिकल सिम्पथी ताँबे के बरतन
चाँदी के मुलम्म से ज्यादह कुछ वक़अत नहीं रखती।
असर दोनों (फरीक) के दिलों मे कुछ नहीं होता
फरीक जानता है कि वह ताँबे का बरतन है, दूसरा
समझता है कि वह झूठे मुलम्म की कलई है।
मेरी मुराद बिरादरानः व दोस्तानः सिम्पथी है।"
जावेद, सन् १९०१ ई०, द्वि० भाग, पृ० ५०, ५१ पर

प्रत्यक्ष ही है कि सर सैयद खां अंगरेजों को
का उल्लेख करते हैं वह बिरादराना और दोस्त
वह वह सिम्पथी है जो कंपनी सरकार के सा

※ सर सैयद अहमद खाँ बहादुर अप
कहते थे, पर क्या अरबों ने कभी हिंदुस्तान क
क्या किसी कोने में दीन की दुहाई देकर
अब रही मुसलमानों की बात। क्या कोई
कह सकता है कि इंगलिश नेशन को हिं
से मिला? दिल्ली का अंधा बादशाह
जीवित था? हम तो नहीं समझते कि
मुसलमानों का सचमुच 'मफ़तूह' बना
मसलमानों का, जिनका घर न जाने कहाँ

पहले ही कह चुके हैं कि आरभ मे अ गरेज देहली दरबार की

की वजह से नहीं है बल्कि अपने * मुल्क की भलाई व बेहतरी के लिये है। पस कोई वजह नहीं है कि हममें और उनमें सिम्पथी न हो। सिम्पथी से मेरी मुराद पोलिटिकल सिम्पथी नहीं है। पोलिटिकल सिम्पथी ताँबे के बरतन पर चाँदी के मुलम्म से ज्यादह कुछ वकअत नहीं रखती। उसका असर दोनों (फरीक) के दिलों में कुछ नहीं होता। एक फरीक जानता है कि वह ताँबे का बरतन है, दूसरा फरीक समझता है कि वह झूठे मुलम्म की कलई है। सिम्पथी से मेरी मुराद बिरादरानः व दोस्तानः सिम्पथी है।" (हयात जावेद, सन् १९०१ ई०, द्वि० भाग, पृ० ५०, ५१ पर अवतरित)

प्रत्यक्ष ही है कि सर सैयद खाँ अंगरेजों की जिस सिम्पथी का उल्लेख करते हैं वह बिरादराना और दोस्ताना है यानें वह वह सिम्पथी है जो कंपनी सरकार के सामने थी। हम

* सर सैयद अहमद खाँ बहादुर अपने को 'अरब' कहते थे, पर क्या अरबों ने कभी हिंदुस्तान को सर किया? क्या किसी कोने में दीन की दुहाई देकर नहीं पड़े रहे? अब रही मुसलमानों की बात। क्या कोई दिलेरी के साथ कह सकता है कि इंग्लिश नेशन को हिंदुस्तान मुसलमानों से मिला? दिल्ली का अंधा बादशाह किसकी दया पर जीवित था? हम तो नहीं समझते कि हिंदुस्तान कभी भी मुसलमानों का सचमुच 'मफतूह' बना। वह भी सर सैयदी उन मुसलमानों का, जिनका घर न जाने कहाँ है।

पहले ही कह चुके हैं कि आरंभ में अ गरेज देहली दरबार की ओर से शासन करते थे और फोर्ट विलियम कालेज में केवल अंगरेजी चर्च के उपासक ही अध्यापक हो सकते थे। अतएव यहाँ पर इतना भर संकेत कर देना चाहते हैं कि उसी शासन और उसी मजहब के नाते सर सैयद उक्त सिम्रथी चाहते हैं और हिंदुस्तान को उसी तरह उनके हाथ में रखना चाहते हैं जिस तरह सन् १८५७ के विप्लव के कुछ पहले देहली दरबार ने शाह ईरान के हाथ में देना चाहा था। इसी से सर सैयद का बराबर यह आग्रह रहा कि अंगरेज 'अह्लकिताब' हैं और उनके शासन के कारण हिंदुस्तान 'दारुल हरब' नहीं बल्कि 'दारुल इसलाम ही है। याद रहे कि इसी संबंध को पुष्ट करने के लिये सर सैयद ने इंजील और और कुरान की कुछ अजीब व्याख्या की और अंगरेजों तथा मुसलमानों को परस्पर दोस्त या बिरादर बनाया।

अब रही हिंदुओं की बगावत की बात। जरा उसे भी ग़ौर से सुन लीजिए। देखिए उर्दू के अमर अदीब 'हयात जावेद' के लेखक मौलाना हाली क्या गवाही देते हैं। उनका पक्का बयान है—

"लिबास का मुत्तहिद होना क़ौमी एगानगत क बढ़ाने और मुग़ायरत के दूर करने में वैसा ही दखल रखता है जैसा ज़बान, नस्ल और मजहब का मुत्तहिद होना।" (वही, प्रथम पृष्ठ ५४)

यदि यह ठीक और पते की बात है तो पाठक जरा ध्यान से

सुने और देखें कि हवा का रुख किधर है। वही मौलाना हाली उसी जगह फरमाते हैं कि "अंगरखा, पाजाम. टोपी, अमामः, पगड़ी या जूता गर्ज कि कोई चीज मुसलमानों के लिबास में ऐसी नहीं है जिस पर कौमी खसूसियत का इतलाक हो सके। हिंदू मुसलमानों में पहले सिर्फ उलटे और सीधे परदह की तमीज थी मगर जब से अचकन का रवाज हुआ यह तमीज भी बाकी नहीं रही।"

तो फिर—

'इसी सबब से सर सैयद को हमेश' यह खयाल रहा है कि हिंदुस्तान के मुसलमान भी और कौमों की तरह अपने लिबास में कोई खसूसियत और माब-उल-इम्तयाज पैदा करें। और चूंकि बकौल उनके आज हिंदुस्तान में कोई मुसलमान अथारिटी ऐसी मौजूद नहीं है, जो एक नेशनल लिबास इस्तरा करे और उसके रवाज देने पर जोर दे। इसलिये उन्होंने मुसलमानों की एक मुअज्जिजतरीन कौम याने तुर्कों का लिबास अव्वल खुद एख्तयार करके कौम में एक मिसाल क़ायम की और फिर मुहम्मडन कालेज के बोर्डरों के लिये उस कायदह के मुवाफिक जिसपर कुस्तुनतुनियः की दरसगाहों में अमलदरामद है यूनीफार्म का कायदह जारी करने का इरादह किया।" (वही)

मारांश यह कि सर सैयद ने उसी तरह 'इम्तयाज' के लिये एक नया विलायती लिबास हिंदी मुसलमानों के लिये ईजाद

किया जिस तरह कि शाह हातिम ने इसलामी 'इम्तयाज़' के लिये एक अलग जबान ईजाद की थी। याद रहे सर सैयद की यह सूझ मजहबी नहीं बल्कि पूरी 'इम्तयाज़ी' थी। 'इम्तयाज़' के लिये ही उन्हें एक खास लिबास की चिंता हुई। यह लिबास 'अरबी' न होकर तुर्की' क्यों हुआ, इस पर पाठक स्वयं विचार करें और मौलाना हाली के उक्त कथन पर ध्यान दें। हाँ, सुभीते के लिये इतना और जान लें कि सर सैयद का सच्चा अभिमान और पक्का गर्व था कि

'मैं मुसलमान हूँ। हिंदोस्तान का वाशिंदह हूँ और अरब की नस्ल से हूँ। इन्हीं दो बातों से कि मैं अरब की नस्ल से हूँ और मुसलमान हूँ आप समझ सकते हैं कि मजहब और खून दोनों के लिहाज से मैं सच्चा रेडिकल हूँ। अह्ल अरब इस बात को पसंद नहीं करते कि बजाय इसके कि वह खुद अपने ऊपर हुकूमत करें, कोई और उनपर हुकूमत करे। इस वक्त तक अह्ल अरब आजाद हैं और अपने मशायखक झंडों के नीचे रहते हैं वह सुल्तान टर्की को सुल्तान नहीं कहते बल्कि अपने वीरान और पथरीले जंगी रहनुमा का खादिम समझते हैं। वह अपनी आजादी का तमाम दुनिया की न्यामतों से बेहतर जानते हैं। ऊँट चराते हैं, जौ पर जिंदगी बसर करते हैं, ऊँटनियों का दूध पीते हैं और अपनी आजादी में खुश रहते हैं।" (वही पृ० ३३३ पर अवतरित)

अरब होते हुए भी सर सैयद ने अरबी लिबास को इख्तयार नहीं किया बल्कि अपने वंशागत अभिमान को चूर कर एक

निहायत विलायती लिबास का प्रचलन किया। उस विलायती लिबास को अपनाया जिसे आज भी तुर्की कहते हैं। क्यों? कारण सैयद सुलेमान साहब नदवी के मुँह से सुनिए और सर सैयद को सदा के लिये अच्छी तरह पहचान लीजिए। उन का कहना है—

"अरबों ने खुलफाय राशदीन और सहाबह् कराम के जमानह् में दौरान जंग के इत्तफाकी वाक़आत को छोड़ कर जिन क़ौमों से मुआहदह किया या सुलह की उनकी इबादतगाहों को ठेस नहीं लगने दी। ईरान के आतशकदे वैसे ही रोशन रहे। फिलस्तीन व शाम और मिस्र व इराक़ के गिरजे जो बुतों और मुजस्सिमों से पटे पड़े थे वैसे ही नाकूसों की आवाजों में गूँजते रहे हालाँकि यह नवमुसलिम तुर्क फातेह उनसे ज्यादह दीन व मजहब के पुरजोश गाज़ी और शरीअत के सच्चे पैरोकार न थे और न हो सकते थे।" (अरब व हिंद के ताल्लुकात हिंदुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, सन् १९३० ई० पृ० १९१-२)

साफ जाहिर है कि सर सैयद को यदि दीन शरीअत या हिंदू मुसलिम एकता की चिंता होती तो वह अवश्य ही अपने बाप दादों की नीति पर चलते और तुर्की लिबास की जगह अरबी लिबास को मुसलिम लिबास क़रार देते और इस तरह बहुत कुछ हिंदू मुसलिम एकता को बढ़ाकर उन्हें एकत्र कर देते। पर खेद है कि जान बूझ कर कूटनीतिवश उन्होंने ऐसा नहीं किया बल्कि प्रमादवश लिबास की बनी बनाई एकता को—इस

एकता को जिसमें मुसलिम शान बराबर कायम थी—इसीलिये मिटा दिया कि उस लिबासी एकता के कारण 'फ़ातेह' और 'मफ़तूह' का सारा भेद मिट गया था और दोनों भाई-भाई नजर आ जाते थे। याद रहे तुर्कों और हिंदुओं का वैर बहुत पुराना है। इतना पुराना कि यह मुहम्मद साहब क्या मसीह से भी बहुत पहले से चला आता है। खैबर वाली क़ौमों ने' भारत को कब गारत नहीं किया ? उन्हीं 'खैबर वाली क़ौमों' को इसलाम का पेशवा या धर्मध्वज समझ लेना ठीक नहीं। क्या उन्होंने अपने ही कौम के हिंदी मुसलिम शासकों को बरबाद नहीं किया ? क्या कल के 'फ़ातेह' मुसलिम आज 'मफ़तूह' नहीं बने और आज के 'फातेह' मुसलिम कल 'मफ़तूह' नजर नहीं आए ? यदि हाँ तो सर सैयद का यह दर्प कैसा ? किस मुँह से वह भारत को अपना 'मफ़तूह' मुल्क कहते हैं और हिंदू-मुसलिम एकता को छिन्न-भिन्न कर एक अजीब इत्तहाद खड़ा करना चाहते हैं ? हम तो इस सरसैयदी 'फ़ातेह' और 'मफ़तूह' की हरकत को इसलाम या दीनपरस्ती नहीं समझते। यदि कुछ लोग इसे इसलाम का सच्चा पाठ समझते हैं तो समझा करें। उनका मत इसलाम नहीं, चाहे कुछ और हो। अच्छा हो यदि आप सैयद सुलेमान साहब सरीखे मुसलिम मर्मज्ञ के उक्त अवतरण पर ध्यान दें और याद रखें कि सौभाग्य से हमारे देश में ऐसे भी इसलामी सपूत हैं जो मुसलमानों की भरी सभा में दिलेरी और शान के साथ दावा कर सकते हैं कि

"साहबान ! हिंदू और मुसलमानों के बाहम चोली दामन का ताल्लुक है जो किसी तरह जुदा नहीं हो सकते। हमारी क़ौम के पाँच करोड़ लोगों में से मेरे ख्याल में फ़ी सदी पचानवे ऐसे शख्स होंगे जिनका ख़ून ख़ाक हिंद॰ से पैदा हुआ है। साहबान, किसी मुहज्ज़ब मुल्क, मुहज्ज़ब कौम में मजहब या मशरब इंसानी हमदरदी को छोड़ नहीं सकता।

"मेरी आरज़ू है कि तमाम क़ैसरी रिआयाय हिंद सिर्फ़ अपने मजहबी माबदों में तमीज हो सकें। हिंदू मादरों और शिवालों में ईसाई चर्च और गिरजों में मुसलमान मसजिदों और ख़ानक़ाहों में; मगर इन मुतबर्रक मकानों से बाहर तमाम भाई भाई हों। और जब तक हुब्ब वतनी का जोश इस दरजः तक न पहुँचेगा

॰ ख़ाक हिंद से पैदा होने वालों में से आज कितने हैं जो ख़ाक हिंद को पाक या अपनी जान समझते हैं ? यदि अपने को मुसलिम कहने वाले लोग 'ख़ाक हिंद' की इस खसूसियत को समझते और अपनी आन पर क़ुरबान होना जानते तो बहुत कुछ आज का विषैला वातावरण दूर हो जाता और उनके सामने उसी रूप में अपने आप ही हिंद आ जाता जिस रूप में तुर्कों के सामने उनका देश आ रहा है अथवा जिस रूप में ईरानी आज ईरान को अपना रहे हैं। पर यहाँ तो 'ख़ाक हिंद' ही से नफ़रत होती जा रही है, फिर उसकी शान कहाँ ? उसके पेड़ पौधों से प्रेम कहाँ ?

के फ़टरीमेन की इज्जत को अपनी इज्जत समझें तबतक हाक़-सिवलाइज का कलक हमसे दूर नहीं होगा। क्योंकि हम और हिंदू एक ही खाक हिंद की पैदाइश हैं।" (खुतबात आलियः हिस्सः अव्वल, मुसलिम यूनिवर्सिटी प्रेस अलीगढ़, सन् १९२७ ई०, पृ० ५४-५ सन् १८९० ई० का व्याख्यान)

वज्रपात तो यह देख कर होना है कि सर सैयद अहमद खां बहादुर ने केवल हिंदू-मुसलिम की बनी बनाई लिवासी एकता को ही मटियामेट नहीं किया, बल्कि सरदार मुहम्मद हयात खां के 'हम और हिंदू एक ही खाक हिंद की पैदाइश हैं' को भी सदा के लिये मिटा दिया। जरा देखिए तो सही, किस शान और तपाक से क्या फतवा देते हैं। उन का दावा यह है—

"मुसलमान इस मुल्क के* रहने वाले नहीं हैं। आला या

* मुसलमान किस मुल्क के रहने वाले हैं, इसका पता सर सैयद ने कहीं नहीं दिया। हाँ, अपने को बार बार अरब अवश्य कहा। अरब होने के नाते उन्हें इसलाम का जो अभिमान था वह मजहबी नहीं बल्कि 'इम्तयाजी' या 'नेचरी' था। नेचरी होने का ही यह नतीजा था कि वह 'रसूल' से अपना नाता संबंध जोड़ते थे और मुहम्मद साहब को 'दादा' कहा करते थे। पर उनके इस अभिमान का इलाज न हो सका। उलटे और बहुत से लोग अपने आप को अरब सिद्ध करने लगे! गोया अर्श को आसमान से जमीन पर उतार लिया और सारा अरब पाक हो गया।

औसत दरजह के लोग अपने मुल्क से यहाँ आकर आबाद हुए। उनकी औलाद ने हिंदुस्तान की बहुत सी जमीन को आबाद किया और कुछ यहाँ के लोगों को जो इस मुल्क की अदना कौमों में से न थे, अपने साथ शामिल कर लिया। पस वह निहायत अदने दरजह की कौमे जो अब तक इतबार इंसानी से भी खारिज हैं और निहायत कसीर हैं, हिंदुओं की मर्दुमशुमारी में शामिल हैं। मगर इस किस्म की कोई कौम मुसलमानों की मर्दुमशुमारी में दाखिल नहीं है।" (रुयदाद इजलास, मेडिकल हाल प्रेस, बनारस सन् १८७२ ई० पृ० ४)

सर सैयद अहमद खाँ की इस शिक्षा का प्रभाव यह पड़ा कि मुसलमान इस देश में अपने को विदेशी समझने लगे और फलतः उनकी सहानुभूति भी इधर से मुड़ कर उन आततायी विदेशियों के प्रति हो गई जिन्हें अल्लामः सैयद सुलेमान साहब नदवी ने 'गैरवाली कौमें' कहा है। आज बहुत से पढ़े लिखे मुसलमान क्या सचेत हिंदू भी जो सिकंदर को मुसलमान कह बैठते हैं उसका प्रत्यक्ष कारण यही है। आज 'मुसलमान' का अर्थ हो गया है 'फातेह' और 'हिंदू' का मतलब समझ लिया गया है 'मफतूह'। 'फातेह' और 'मफतूह' की यह 'इस्तयाज' हमारे राष्ट्र जीवन का वह घुन है जिसने भीतर ही भीतर हमारी राष्ट्र-निष्ठा को खा लिया है, हमारे जीवन की सार-सत्ता को नष्ट कर दिया है और राष्ट्रभाषा के प्रश्न को हमारे लिये 'क्विक मार्च' बना दिया है। प्रमाद और व्यामोह के कारण हम आपस

में ही जूझ रहे हैं। हमारे लिये कुरान शरीफ का यह आदेश अरण्य रोदन हो रहा है। 'इम्तयाज़' ने दीन और मज़हब को दबा लिया है। मजहब 'कहता है—

" व मा अर्सलना मिन् रसूलिन् इल्ला बेलेसाने कौम ही" (सूरः इब्राहीम की आयत ४) याने "और हमने तमाम (पहले) पैग़म्बरों को (भी) उन्हीं की क़ौम की ज़बान में पैग़म्बर बना कर भेजा है।" (मौलाना अशरफ़ अली थानवी)।

पर 'इम्तयाज़' भड़काती है—

"वह (मुसलमान) जहाँ जाते थे अपनी ज़बान और अपना इल्म * अदब अपने साथ ले जाते थे। जिस तरह इस्पेन में जाकर उन्होंने इस्पेनिश ज़बान या ईरान में जंद ज़बान नहीं सीखी, उसी तरह हिंदुस्तान में आकर इस मुल्क की ज़बानों के सीखने की तरफ तवज्जह नहीं की और इसीलिए ग़ैर ज़बानों के सीखने की क़ो अल्-बाक़ा उनमें क़ाबिलियत न

---

* यदि मोलाना हाली का यह फरमाना बिल्कुल बजा है तो 'तिब' और 'फ़िलसफ़.' इसलाम में किधर से आ गए! अरस्तू और अफ़लातून कहाँ के इसलाम के कायल थे ? भई, सच्ची और खरी बात तो यह है कि इस तरह की लचर और मनहूस दलीलें हिंदी मुसलमानों को ही सूझती और पसद आती हैं। क्योंकि यही उनका स्वभाव सा हो गया है। दुनिया के सच्चे और स्वतंत्र इसलाम की आँखें सदा खुली रही हैं हिंदुस्तानी इसलाम की तरह बंद नहीं।

रही थी।" (हयात जावेद, वही पृ० ७४ द्वि० भाग)

उर्दू के अमर अदीब मौलाना हाली ने क्या कह दि 'हिंदुस्तान में आकर इस मुल्क की जबानों के सीखने की र तवज्जह नहीं की ?' तो फिर इस मुल्क की 'मुल्की ज़बान उनकी 'मादरी ज़बान' कैसे हो गयी ? क्योंकर और । बूते से उन्होंने घोषणा कर दी कि—

"ख़ुद देहली में भी फसीह उर्दू सिर्फ मुसलमानों ही जबान समझी जाती है। हिंदुओं की सोशल हालत उर्दू मुअल्ला को उनकी मादरी ज़बान नहीं होने देती।"

किनकी ? उन्हीं हिंदुओं की, जिनके मुल्क में आकर मु मानों ने उनके मुल्क क जबानों के सीखने का कष्ट नहीं ि और जबरदस्ती अंगरेजी के दबाव में आ जाने से अब ि उर्दू का धनी बनाने जा रहे हैं। हैरान न हों। अभी आप इस क्षेत्र में बहुत कुछ आपको देखना है और बहुत से बुजुर्गों को सचेत कर देना है कि दर हकीकत उनकी म जबान मुस्तनद उर्दू नहीं, और चाहे जो कुछ हो। 'मुस् उर्दू' तो 'इम्तयाजी' लोगों की मादरी जबान है जो ' नहीं तो शाही शान के गुलाम जरूर हैं। रही मुल्की लोगों जबान। वह तो अवश्य' ही 'भाका' या खड़ी हिंदी है जो ं वश आज उर्दू बताई जा रही है।

इम्तयाजी लोगों ने जहाँ एक ओर देशभाषाओं का वि किया वहीं दूसरी ओर दिलपरस्त सूफियों ने उनका गुणग

जो लोग हिंदी-उर्दू विवाद को कल की चीज समझते हैं, उन्हें अपनी समझ का जल्द इलाज करा लेना चाहिए और अच्छी तरह यह जान लेना चाहिए कि 'इम्तयाजी' लोग सदा से हमारी देशभाषा हिंदी का विरोध करते आ रहे हैं। यदि विश्वास न हो तो कम से कम एक बार उन दीनदार मुसलमानों और प्रेमपरस्त सूफियों से सचाई के साथ पूछ देखिए कि उन्होंने अपनी पोथियों में क्या लिखा है और किस तरह हिंदी के लिये जी जान से पैरवी की है। दूर की बात जाने दीजिए। अभी उस दिन की बात लीजिए जिस दिन भागती हुई फारसी की रक्षा के लिये देहली दरबार उर्दू की एक नई टकसाल कायम कर रहा था और जनता हिंदी पर फिदा हो रही थी। मुसलिम जनता के इस हिंदी-प्रेम से व्यथित होकर इम्तयाजी लोग 'फारसी' का पल्ला खूब जोर से पकड रहे थे और हिंदी की घोर निंदा में लगे थे। पर दीन के सच्चे सपूत उनके हाथ नहीं आते थे, उलटे और भी दिलेरी तथा हिम्मत के साथ साफ साफ समझाते थे कि—

"हिंदी पर ना मारो ताना, सभी बतावैं हिंदी माना।
यह जो है कुरआन खुदा का, हिंदी करैं बयान सदा का।
लोगों को जब खोल * बतावैं, हिंदी में कह कर समझावैं।

---

* 'तारीख गरीबी' के लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि दीन के सच्चे सपूत 'सीधी बोली' याने हिंदी का प्रयोग क्यों करते हैं और क्यों 'इम्तयाजी' या 'सयासी' लोग उसका

जिन लोगों में नबी जो आया, उनकी बोली सों बतलाया।
हिंदी मेहदी ने फरमाई, खुद मीर के मुँह पर आई।
कई दोहरे साखी बात, बोले खोल मुबारक आत।
मियाँ मुस्तफा ने भी कही, और किसी की फिर क्या रही ?"

और—

"लिखा निपट कर सीधी बोली, जो कुछ गठरी थी सो खोली।
समझें सारे खास अवाम, मूरख चतुर सुघर नर बाम।
पहुंचै सबको नफा नसीबी, नाँव रखा तारीख गरीबी।
ग्यारा सै चौसठ पर बनी, पूरी करी फजल कर धनी।"

'तारीख़ ग़रीबी' के लेखक ने नबियों की कथा को जिस भाषा में लिखा है वह हिंदी है। उसका नाम भी हिंदी ही कहा गया है। उसके विचार में यह वह हिंदी है जिसे 'सारे खास अवाम, मूरख चतुर' अच्छी तरह समझ सकते हैं। याने यह उसकी दृष्टि में आमफ़हम हिंदुस्तानी है। याद रखना होगा कि यह हिंदी वस्तुतः वही हिंदी है जो उस समय मुसलमानों की 'आम फ़हम' जबान थी। उत्तरी भारत के मुसलमान इसी को विरोध या उसके प्रतिकूल जेहाद करते हैं। आज भी परिस्थिति बहुत कुछ यही है। 'लीग' मजहबी लोगों की संस्था नहीं बल्कि इस्तयाजी लोगों की एक मंडली का नाम है जिसे मजहब से उतना ही काम पड़ता है जितना किसी ट्रेन का झंडी से। 'तारीख गरीबी' की भाषा मुसलिम राष्ट्रभाषा है न कि जनाब हातिम की 'ख़ासपसंद' जबान।

यहाँ की 'सीधी बोली' कहते थे। साथ ही, यह भी याद रहे कि देहली में उस समय 'हातिम' का बोलबाला था और वहां 'वली' के 'दक्खिनी कलाम' के आधार पर फारसी-तर्ज पर दरबार की जबान याने उर्दू में भी रचना आरंभ हो गई थी। शाह हातिम ने स्वयं किस तुर्रे के साथ लिख दिया है कि—

"सिवाय आँ, जबान हर दयार, ता बहिंदवी, कि आँ रा भाका गोयंद मौकूफ नमूदः, फक़त रोजमर्रः कि आमफहम व खासपसंद बूदः, एख्तियार करदः।" (दीवानजाद. का दीबाचः १७५५ ई०)

कहने का तात्पर्य यह कि शाह हातिम ने 'तारीख गरीबी' की प्रकृत भाषा तथा शैली दोनों का बहिष्कार कर दिया और तत्कालीन रचना-पद्धति को छोड़ एक विदेशी पद्धति को ग्रहण कर, 'सीधी बोली' को बिल्कुल बदल कर उसे दरबारी याने उर्दू बना दिया और फारसी के तर्ज पर चलने के लिये उसे सब तरह से मजबूर कर दिया। फिर क्या था, इस्तयाजी लोगों को मुँहमाँगा वर मिला और राष्ट्रभाषा हिंदी पर दिन दहाड़े प्रहार होने लगा। देखते ही देखते उर्दू मुसलमानों की मजहबी जबान मजलिस में छा गई और हिंदी को दरबारों से बहुत दूर खदेड़ दिया। फिर भी इन शाही दरबारों से हिंदी का उतना अहित न हो सका। कारण प्रत्यक्ष था। क्या देहली और क्या लखनऊ किसी भी दरबार में उर्दू मनबहलाव या शाही मजाक से आगे न बढ़ सकी थी। हिंदी का सर्वनाश तो तब शुरू हुआ जब

वह देहली और लखनऊ से खसक कर शाही सरकार के सहारे फोर्ट विलियम में पहुँच गई और वहाँ अपना रागरंग जमाकर अंगरेजों को फुसलाने लगी।

लोग कहते हैं कि डाक्टर गिलक्रिस्ट ने हिंदी को उबार लिया। तथ्य कहता है कि डाक्टर * गिलक्रिस्ट ने हिंदी को डुबा दिया। बयान स्वयं डाक्टर गिलक्रिस्ट का यह है—

"In the Hindoostanee, as in other tongues, we might enumerate a great diversity of styles, but for brevity's sake I shall only notice three here, leaving their sub-divisions to be discussed along with the history of the language, which has been reserved for the second volume. 1st, The High court of Persian style, 2 nd, the middle or

* अब वह समय आ गया है कि हम डाक्टर गिलक्रिस्ट का स्वतंत्र अध्ययन करें और यह प्रत्यक्ष दिखा दें कि उनका उर्दू साहित्य पर कितना ऋण है। याद रहे कि यदि फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना न होती और डाक्टर गिलिक्रिस्ट उर्दू को अपना न लेते तो आज उर्दू कभी इस रूप में देखने को न मिलती और व्यर्थमें रोमन लिपि की पैरवी भी न की जाती। सच पूछिए तो डाक्टर गिलक्रिस्ट की सबसे बड़ी देन है रोमन लिपि और उर्दू नस्र, न कि नागरी लिपि और नागरी भाषा।

genuine Hindoostanee style, 3rd the vulgar or Hinduwee

In the more elevated poems of souda, Wulee, Meerdurd, and others, and in the affected pompous, pedantic language or literature and politics, the first is predominant, and leans to Arabic and Persian agreeably to circumstances.

The elegy of Miskeen, the satires of Souda, Hindoostanee Tales, and the Articlas of War in the Oriental Linguist, the speech of well bred Hindoostanee Monshees and servants are the best specimens I can recollect of the midde style, while the 3 rd or Hinduwee is evident in Mr. Fostor's unaffected translations of the Regulations of Government, in all or the greatest part of Hindoostanee compositions written in the Nagree character, in the dialect of the lower order of servants and Hindoos, as well as among the peasantry of Hindoostan.. ......The Preference which I give the middle style over the others must appear in every page of my works, as it is un truth central regulator or tongue by which we

perceive the ascending and descending scales on either side......As the language is still fluctuating and unsteady, it will be found difficult, if not impossible, to avoid the extremes to which it is constantly exposed in a country especially, where pedantry, so far from being decried, is esteemed as the touchstone of learning, and where, on one hand, tho learned Moosalman glories in his Arabic and Pesian, and, on the other, the Hindoo is no less attached to his Sunscrit and Hinduwee" (Appendix to Gilchrist's Dictionary.)

डाक्टर गिलक्रिस्ट की उक्त गवाही से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि कभी उन्होंने उस व्यापक लोकभाषा को महत्त्व नहीं दिया, जिसका प्रचार सर्व सामान्य में था और जिसका सत्कार कंपनी सरकार ने 'तमामी आदमी के बूझने के वासते' अपने विधानों या आईनों में किया था। क्यों? कारण प्रत्यक्ष है। न्यायनिष्ठा के नाते उन्हें मध्य मार्ग ही पसंद है। ठीक है। हम भी इसी मध्य मार्ग के कायल हैं। पर हम अभी यह समझ लेने में असमर्थ हैं कि डाक्टर गिलक्रिस्ट की 'मुंशी शैली' ही हमारी 'मध्य शैली है। क्योंकि डाक्टर गिलक्रिस्ट स्वतः कहते हैं कि उन्होंने जिस शैली का प्रतिपादन किया है वह 'मिसकीन के मरसिया', 'सौदा की हजो' और पढ़े लिखे शिष्ट

हिंदुस्तानी मुंशियों और नौकरों की भाषा है। याने वह किसी तरह की लोकभाषा न होकर एक तरह की हल्की दरबारी और किताबी भाषा है। वह दरबार की फारसी शैली से टक्कर नहीं ले सकती, पर रहती सदा उसीके साथ है। वह सच्ची शाही जबान नहीं, पर है उसी की कैद में। अफसोस! फिर भी उसे डाक्टर गिलक्रिस्ट हिंदुस्तानी कहते और उसे 'हिंदवी' याने सच्ची हिंदुस्तानी पर तरजीह देते हैं। कारण? कारण आप के सामने खड़ा है। वह पुकार पुकार कर कहता है कि डाक्टर गिलक्रिस्ट उन सरकारी साहबों के उस्ताद हैं, जिन्हें शाही सरकार के अधीन रहकर फारसी में राजकाज करना है और एक ऐसी भाषा को जल्द सीख लेना है, जिससे फारसी पढने में सहूलियत हो और दरबारी लोगों से बात व्यवहार करने में कोई अड़चन न हो। इसी से हम कहते हैं कि डाक्टर गिलक्रिस्ट ने प्रमादवश वह रास्ता निकाल दिया जिसपर चलकर अंगरेजी सरकार ने धीरे धीरे हमारी राष्ट्रभाषा और राष्ट्र लिपि हिंदी को सर्वथा चौपट कर दिया और कचहरियों तथा सरकारी दफ्तरों से कान पकड़ कर बड़ी बेरहमी से हिंदी को, उस हिंदी को निकाल बाहर किया जो कभी मुगल सम्राटों की भी मुँह लगी थी और जो मुसलमानों की प्यारी 'मादरी जबान' थी। जिसके लिये वे कट्टर फारसी परस्तों से लड़ जाते और गर्व के साथ दावा करते थे कि—

"हिंदू मग पर पांव न राख्यों, का जौ बहुतै हिंदी भाख्यों?

मन इसलाम मसल कै मान्यों, दीन जेंवरी करकस भान्यों।
जहाँ रसूल अल्लाह पियारा, उम्मत को मुक्तावन हारा,
तहाँ दूसरा कैसे भावै, जच्छ-असुर-सुर काजन आवै।" ❀

किंतु, वहाँ न, जहाँ अल्लाह का प्यारा रसूल घर कर चुका हो? न कि वहाँ, जहाँ 'शाही शान' रातदिन सताए जाती हो और मिरामी 'इम्तयाज' पल भर भी चैन न लेने देती हो। वहाँ तो बस हिंदी का विरोध ही सच्चा इसलाम अज़म है? 'इम्तयाज' ही इसलाम की सच्ची सीख है?

देहली और लखनऊ की देखा देखी फोर्ट विलियम कालेज ने भी किस तरह 'चुन चुन कर' गिलक्रिस्टी किताबों से भाषा और संस्कृत के ठेठ शब्दों को निकाल फेंका और उनकी जगह अरबी और फारसी के बाहरी शब्दों को जमा कर डाक्टर गिलक्रिस्ट की मिली-जुली 'मुंशी शैली' को शुद्ध और खरी 'दरबारी' शैली याने 'उर्दू' बना दिया, इसका कुछ संकेत हम

❀ यह अवतरण 'अनुराग बांसुरी' नामक एक अप्रकाशित रचना से लिया गया है। 'अनुराग बांसुरी' के लेखक हैं श्री नूरमुहम्मद मबरहदी। नूरमुहम्मद 'कामयाब' के नाम से फारसी में भी अच्छी रचना करते थे और हिंदी में भी उनके दो और प्रबंध काव्य हैं। नूरमुहम्मद की इन्द्रावती का बहुतों को पता है। उनकी एक रचना 'नलदमन कहानी' भी है। अनुराग बाँसुरी का रचना काल सन् १७६४ ई० (११७८ हि०) है।

पहले ही कर चुके हैं। यहाँ हम इतना और दिखा देना चाहते हैं कि फोर्ट विलियम सरकार ने ठीक यही गति विधान में प्रचलित और परंपरागत न जाने कितने भाषा तथा संस्कृत शब्दों की की। उदाहरण के लिये चिरपरिचित 'स्थावर' तथा 'जंगम' शब्दों को लीजिए। यदि आप प्रसंग आने पर कहीं कचहरी में आज इसका नाम ले लें तो सर तेजबहादुर सप्रू जैसे विश्व-विश्रुत वकील घबरा उठेंगे। पर यदि आप उस समय की आईन को देखने का कष्ट करेंगे जब अदालतों में उर्दू का नाम तक न था और नागरी का चारों ओर प्रचार था तो आपको अवश्य अवगत हो जायगा कि वस्तुतः भूल और और अज्ञान कहाँ है। देखिए—

"अगर कोई मालिक जमीन अपने मीलकिअत का जाएदाद बेनरह तसरुफ ईआ खरच करै तब ईस बात ईआ और बाबत में अगर बुरड रेवनु के साहेब लोग मोनासिब जान ही गवरनर जनरल ईन कौमल को ईस बात का सलाह देहींगे के बाकी के अदाऐ के वास्ते बाकीदार का जमीन बिक्री आईन के जिसके बमौजिब उन सभो का असथावर वो जंगम माल बीकरी के लाऐक है बिकरी कीआ जाऐ।"

(अंगरेजी सन् १८०३ साल २७ आईन १९ दफा ५ तफसील)

हो सकता है कि आजकल के न्यायनिष्ठ महात्माओं को इस अवतरण में द्वेष या हठधर्मी अथवा सांप्रदायिकता की गंध आती हो। इसलिए उचित यह जान पड़ता है कि यहाँ

कुछ उन शब्दों पर विचार करें जो शाही शान के द्योतक तथा 'मुसलमानों की निशानी' ही नहीं बल्कि 'मुश्तरक.' या 'मुल्की जबान' के निजी शब्द हैं और आज भी नजीरों के व्यवहार में हैं। जनाब गालिब फरमाते हैं—

"नक्श फरियादी है किसकी शोखी-ए-तहरीर का
कागजी है पैरहन हर पैकरे तसवीर का।"

यह फरियादी है क्या बला ? जरा इसे भी मिरजा गालिब के ही मुँह से सुन लीजिए—

'ईरान में रस्म है कि दादख्वाह कागज के कपड़े पहन कर हाकिम के सामने जाता है।. ....पस शाइर ख्याल करता है कि नक्श किसकी शोखी ए तहरीर का 'फरियादी' है।" (ऊर्दू हिंदी, पत्र संख्या १३८)

फोर्ट विलियम की अंगरेजी सरकार ने पहले इसी 'फरियादी' शब्द को ग्रहण किया और नागरी के विधान में लिखवाया कि—

"जिस वख्त वकील फरिआदी ईआ असामी के तरफ से कोई मोकदिमा के सवाल वो जवाब का काम अपने जिमा करै उस फरीआदी इआ असामी को चाहिऐ कि उस वकील को चारी आना वेआने के तरफ से देवै के उअह वकील उसके लेने के सबब से उसी मोकदिमा के तरफसानी के सवाल वो जवाब का काम कबूल नहीं करै वो उस वकीलको चाहिऐ के उस वेआना के लेने पर उसका रसीद उसके पावने के तारीख के

ठेकने में लिख देवै ।" (अँगरेजो सन् १८०३ साल १० आईन ६ दफा)

चकराने की बात नहीं है । 'उर्दू' के यहाँ यह 'असामी' भी मौजूद हैं । जरा गौर के साथ मुलाहिजा तो फरमाइए । मौलाना हाली कैसी नजीर पेश करते हैं । उनका कहना है

"सुना है कि जिन दिनों बंगाल में वहाबियों*की वहकीकात और तलाश हो रही थी । एक यूरोपियन मुअज्जिज अफसर से जो इसी काम पर मामूर था रेल में सर सैयद से मुठभेड़ हो गई । दोनों आगरह जाते थे और सर सैयद को किसी जरियः से मालूम हो गया था कि यह अफसर वहाबियों की तलाश पर मामूर है । उस अफसर ने उनसे पूछा कि आपका क्या मजहब है ? उन्होंने कहा कि वहाबी मुसलमान हूँ । फिर उसने सर सैयद का सारा पता दरियाफ्त किया । उन्होंने सही

---

* वहाबियों का व्यापक आंदोलन कितना प्रबल हो उठा था, इसका कुछ पता उक्त अवतरणसे चल जाता है । आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि हमारे राष्ट्रभक्त नेता इस धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक आंदोलन या उपद्रव के मूल मे पैठना नहीं चाहते, वल्कि उलटे सहसा कह बैठते हैं कि इसका सूत्रपात स्वामी दयानंद सरस्वती अथवा हिंदुओं ने किया । उन्हें एक बार सर सैयद अहमद खाँ की किताब 'असबाब बगावत' को पढ़ लेना चाहिए । भ्रम आप ही दूर हो जायगा ।

सही बयान कर दिया। जब रेल आगरह में पहुँची दोनों उतर कर अपने अपने ठिकाने चले गए। फिर सर सैयद बटन साहब कमिश्नर आगरह से मिलने को गए। इत्तफाक से वह अफसर उन्हीं के यहाँ ठैरा हुआ था और उनसे जिक्र कर चुका था कि इस हुलिय और इस नामका एक वहाबी मुसलमान फलाँ जगह ठैरा हुआ है। अब साहब कमिश्नर ने अफसर मजकूर को बुला-कर कहा कि लो यह तुम्हारे असामी हाजिर है। जब उनको मालूम हुआ कि यह शख्स बावजूदह वहाबी होने के बड़ा खैर-ख्वाह सरकार है तो उसे निहायत ताज्जुब हुआ और सब बहुत देर तक इस बात पर हँसते रहे।" (हयात जावेद प्रथम भाग पृष्ठ १८३ नोट)

'फरियादी' तथा 'असामी' की इस शिष्टता और इस व्यापकता को ध्यान में रख कर थोड़ा यह भी देखिए कि आखिर क्यों उन्हें कचहरियों में आज जगह नहीं दी जाती। क्या वे शुद्ध भाषा या संस्कृत के बनावटी शब्द हैं? नहीं, बात यह है कि आज वे आमफहम और आमपसंद होने के नाते अपनी 'इम्तयाजी' प्रतिष्ठा खो चुके हैं। उनके उच्चारण में कोई ऐसी तमीज नहीं रही कि आप आसानी से उनका उच्चारण न कर सकें। उनको लिख लेने में भी आप आजाद हो गए हैं। उनको पढ़ने लिखने के लिये किसी मौलवी की 'सही' नहीं चाहिए। अब आप ही कहें, इम्तयाजी लोग उन्हें क्योंकर पसंद कर सकते हैं? रही अंगरेजी सरकारकी न्यायनिष्ठा! उसके भी फूलने

फलने के लिये अत्यंत आवश्यक है कि आप में 'इम्तयाज' बनी रहे, आप कभी एक न हो सकें। निदान अंगरेजी सरकार के लिये आवश्यक हो गया कि वह सब तरह से इम्तयाजी लोगों को सराहे और उनकी इम्तयाज को बहाल करने के लिये कुछ शीन काफ का लिहाज रखे। उसकी सच्ची राजभक्ति ने उसे विवश कर दिया कि वह भाषा की एक ऐसी टकसाल कायम करे जो न अरब की हो और न ईरान की; बल्कि उन कट्टर काज़ियों और कठमुल्लाओं की हो जो सदा से इम्तयाजी लोगों के उस्ताद रहे हैं और समय समय पर बराबर यह पाठ पढ़ाते आ रहे हैं कि 'इम्तयाज' ही जीवन का लक्षण है। यह इसी इम्तयाज की कृपा है कि हमारे 'लाल' 'प्रसाद' और 'जाति' यहाँ 'लाल' 'प्रशाद' और 'ज़ात' हो गए। 'फ़िरक़ः' को 'जात' का पाक नाम दे दिया पर उसे कभी 'जात' के रूप में ग्रहण न किया। फिर भला, 'फरियादी और 'असामी', को क्यों कचहरियों में रहने देते? उनके रहते हुए उन्हें कचहरी में 'सही' के लिये पूछता कौन? 'फरियादी' और 'असामी' में अरबियत कहाँ हैं? अरबियत का राज्य देखना हो तो 'मुद्दई' और 'मुदालेह'*

* डाक्टर क़ादिरी का इस प्रसंग में कहना है कि 'इस वक्त ऐसे सदहा क़ानूनी अल्फ़ाज़ बन गए जो आज आमतौर पर बोले और समझे जाते हैं। खुद क़ानून ग़ालिबन इसी ज़मानः की एख़तरा है। इसके अलावह मुस्तग़ीस, मुद्दई, समन, अज़ालः, हैसियत, अ.ज़ी और इस कबील

भी तुर्रा यह कि उन्हें देशभाषा में खपाने के लिये सैकड़ों रुपए प्रतिदिन पानी की तरह * बहाए जा रहे थे। कंपनी सरकार की नीति क्या हो गई थी, इसे कट्टर ईसाई भक्त गार्सां-द-तासी के मुँह से सुन लीजिए और भूल न जाइए कि आप हिंदुओं के द्वेषी परम मुसलिम भक्त थे। आप फरमाते हैं और बिल्कुल सही फरमाते हैं कि—

"ईस्ट इंडिया कंपनी की यह हिकमत असली रही थी कि उर्दू को हिंदी से अलहदह तसव्वर किया जाय। चुनांचः उर्दू का जो जदीद अदब इस जमाने में पैदा हुआ उसमें अरबी फारसी के अल्फाज बराबर इस्तेमाल किए जाते थे बल्कि उन अल्फाज को तरजीह दी जाती थी। इस जदीद अदब की सरकारी मदारिस में भी हिम्मत अफजाई की गई।" (खुतबात पृ०, ५४६, व्याख्यान सन् १८६६ ई०)

---

* कंपनी सरकार ने उर्दू की उन्नति के लिये जो कुछ किया उसका ठीक ठीक लेखा अभी तक नहीं लिया गया। हिंदी वालों को यदि इसका कुछ भी पता होता तो उनकी समझ में आसानी से आ जाता कि हिंदी को मारने के लिये सरकार कितनी मुस्तैदी से काम करती आ रही है। यदि उर्दू के गत १०० वर्ष के इतिहास पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट होगा कि ब्रिटिश और निजाम सरकार ने ही उर्दू को हिंदी के खून से सींच कर हरा भरा कर दिया है। नहीं तो यह कलमी पौधा अपने आप ही सूख कर नष्ट हो जाता।

कहने की जरूरत नहीं कि इसी फारसी-अरबी के बाहरी लदाव के कारण राजा शिवप्रसाद उस उर्दू के विरोधी हो गए थे जो देशभाषा के नाम पर बच्चों को एक ऐसी जबान पढाना चाहती थी जिसका भारत के नित्यप्रति के जीवन से कुछ भी संबध न था और जिसकी प्रतिष्ठा केवल इन्तयाजी लोगों मे ही हो सकती थी। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि यह बाबू साहब की उल्टी गगा बहाने की एक निहायत ओछी तदबीर थी। क्योंकि यह हम अच्छी तरह जानते हैं कि फारसी की जगह उर्दू के आ जाने पर भी हिंदी अँगरेजी सरकार की आँख से ओझल नहीं हुई। यहाँ की गर्मी की तरह यहाँ की भाषा को भी उसे विवश हो सहना ही पड़ा। जनता के पास पहुँचने के लिये जनता की भाषा को अपनाना ही पडा। अतएव हम देखते हैं कि आगरा खंड की पुलिस की सावधानी के लिये जो नियम बनते हैं उनमे हिंदी को भी जगह मिलती है। अभी हिंदी उसी तरह उर्दू के साथ लगी चल रही है जिस तरह कभी फारसी के साथ चलती थी। जरा देखिए तो सही—

"बड़ी सडक के अहलकारान पुलिस के कामों में भ्रम दूर करने के हेत नीचे लिखे हुए कायदे उनकी साधना के लिये स्थापित हुए हैं और उर्दू और हिंदी भाषा में इन कायदों की एक एक प्रति तख्ते पर चिपका कर उस सडक के पास के हर एक मरहले और चौकी और थाने पर लटकाई जायगी।" (शिक्षा, श्री युत

पश्चिम देशाधिपति नव्वाब लफ्टनंट गवर्नर बहादुर की आज्ञानुसार छापी गई; आगरा सिकंदरे पै यतीमों के छापेघर में छपी, सन् १८५३ ई०)"

अस्तु, हिंदी के द्वेपियों और उर्दू के हिमायतियों को भूलना न होगा कि—

"इस शिक्षा पुस्तक के रचने से हमारा अभिप्राय यह है कि उन पुलीसाध्यक्षों के लिये जो आगरे हाते के जिलों में प्रतिदिन बढ़ते चले जाते हैं और निस्संदेह लेखनी का पकड़ना ऐसा अच्छा नहीं जान्ते जैसा कि तलवार का जान्ते हैं परन्तु फिर भी कुछ कुछ अक्षर ज्ञान और पुस्तक पढ़ने की अभिलाषा रखते हैं एक छोटी और सीधी सी आज्ञा पुस्तक बनाई जाय ॥ इन लोगों में अर्थात् पुलीस के जमादारों और बरकंदाजों में ऐसे मनचले थोड़े होंगे जो लेडली साहिब के तरजुमः किये हुए दरोगा के दस्तूरुलअमल को देखें और कदाचि देखा भी तौ ठीक वही उपदेश जिसको अपने काम के लिये वे चाहते हैं कठिनता से मिलेगा और कदाचित् ठीक वही उपदेश भी पा गया तो उसका समझना सहज नहीं क्योंकि आईन ग्रंथों में नियत शब्दों और बार बार एक से वाक्यों का लाना आवश्यक पड़ता है और इस से कानून का पाठ कुपढ़ मनुष्य की समझ को घबरा डालता है परतु जो ऐसे मनुष्य इस छोटी सी पुस्तक को देखा करें तो संभव है कि अपने मतलब की शिक्षा और उपदेश सहज ही पावें ॥ इससे जान पड़ा कि हमारी आकांक्षा इतनी दरोगों को

विद्याभ्यास कराने से नहीं है जितनी कि इन आधीन लोगों के पढ़ाने से है जो आसा रखते हैं कि किसी दिन दरोगा के काम पर पहुँचें ॥ हो सकता है कि अगर बरकंदाज उद्योग करें तो इन उपदेशों को हिन्दी भाषा में लिखे पढ़ कर अपने तई जमीदारी के ओहदे के योग्य बनावें इसी भांति जमादार भी अगर इतनी उर्दू पढ़ जाय कि इन उपदेशों को जान ले तो जो और तरह से भी लायक होगा थानेदारी के योग्य गिना जायगा ॥ इन बातों के सिवाय पुलीस के अच्छे बनाने की यह जुगत है कि पुलीस के सब नौकरों को आसा रहै कि अगर योग्य हों और अच्छे चलन से चलें तो उनकी पद वृद्धि होगी इसलिए यह भी उचित है कि ऐसा उपाय किया जाय जिससे हर कोई यथा योग्य बातों के जान्ने का द्वारा पावे।" (वही पृ० ११, १२)

उक्त 'शिक्षा पुस्तक' के प्रकृत अवतरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अभी तक हिंदी अपनी पुरानी मर्यादा पर बनी है और अपनी सहज सरलता के कारण सुबोध और उपयोगी भी समझी जाती है। 'बरकंदाज' हिंदी के सहारे 'जमादार' तो बन सकता है पर थानेदार* होने के लिये 'उर्दू' का जानना लाजिमी है।

*हिंदी उर्दू विवाद के विषय में हम बराबर कहते आ रहे हैं कि वस्तुतः वह जनता का कोई निजी विवाद नहीं है, बल्कि उसपर वह सरकार की ओर से लाद दिया गया है। इस लदाव का भार जनता पर आज इतना पड़ गया है कि कुछ लोग शिक्षा के लिये हिंदी और उर्दू को अनिवार्य करार देना

कुछ चर्चा करने के पहले ही सुभीता होगा कि तनिक देहली कालेज का रवैया देख लें। कहना न होगा कि उक्त कालेज के भीतर एक ऐसी संस्था भी कायम की गई थी जिसका नाम था 'वर्नाक्यूलर ट्रांसलेशन सोसायटी', और जिसका काम था देश-भाषाओं के द्वारा उस 'अपूर्व' ज्ञान को देशवासियों में भर देना जिनका उन्हें पता तक न था। खैर, उसने किया क्या, तनिक इसे ही देख लीजिए। उसकी रिपोर्ट में कहा गया है कि

"अगरचः यह अंजुमन अँगरेजी, अरबी, संस्कृत और फारसी जबानों से आला दरजे की किताबें उर्दू, बंगाली और हिंदी में तरजमः करने के लिये कायम की गई थी, लेकिन सिवाय उर्दू के बंगाली और हिंदी में कोई तरजमः नहीं हुआ।" (उर्दू, जुलाई, १९३९ ई० पृ० ४७२

क्यों नहीं हुआ, जरा इसे भी गौर से सुन ले—

"सिक्रेटरी ने अपनी रिपोर्ट में इसकी कई वजूह बताई हैं। एक तो यह कि अंजुमन का सरमायः महदूद है और फिल्हाल हमें अपनी कोशिशें सिर्फ एक जबान तक महदूद रखनी चाहिएँ। दूसरे, अलावः इस अम्र के कि बंगाल से सिर्फ एक ही साहब ने चन्दः अता किया है, बंगाली जबान बनिस्बत हिंदुस्तानी के ज्यादह तरक्कीयाफ्ता है। तीसरे, उर्दू तरजमों के लिये देहली कालेज सब से मौजूं जगह है। हिंदी और बंगाली तरजमों के लिये इस कदर मौजूं नहीं। चौथे, हिंदुस्तानी जबान कम्पनी के इलाकों (बिहार और बालाई सूबों) की रिआया के

पर चालू किया जाय और अपने को मुसलमान कहने वाले जीवों को संतुष्ट कर यह सुझा दिया जाय कि यदि वे सावधान तथा सतर्क नहीं हो जाते हिंदू नाम के जीव उन्हें साफ चट कर जायँगे और फिर उनका निशान भी उस देश से मिट जायगा जो न जाने कितने दिनों से उनके चरणों पर नाक रगड़ता रहा है। फल यह हुआ कि उनमें भी तत्परता आ गई और वे अपनी 'शान' तथा 'इम्तयाज़' के लिये पागल हो उठे। सैयद अहमद ख़ाँ बहादुर पहले से ही इसके लिये तुले बैठे थे। फिर क्या था, उर्दू का बाजार गर्म हुआ और हिंदी की छीछा-लेदर शुरू हुई। उर्दू मुल्की जवान बनी और हिंदी गँवारी बोली हो कर रह गई।

सैयद अहमद ख़ाँ बहादुर की साइंटिफिक सोसायटी की

नतीजा इसका यह होता है कि वह फारस और अरब का गुणगान कर अपने आपको हम हिंदियों से अलग कर लेता है पर अपनी इस इम्तयाज़ी चेष्टा के कारण स्वतंत्र मुसलिम देशों में आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता बल्कि स्वतः अरब भी उसे 'बत्ताल' या झूठा ही कहते हैं और 'हिंदी' मनहूस नाम से याद फ़रमाते हैं। यदि हिंद के मुसलमानों को अपने देश का सच्चा अभिमान होता तो उन्हें अरस्तू अफलातून या रुस्तम से कहीं अधिक व्यास, कपिल और भीम से ही प्रेम होता और उनकी प्रवृत्ति भी सर्वथा हिंदी ही होती। पर यहाँ की बात ही निराली है। घर से बैर गैर से रमझव।

कुछ चर्चा करने के पहले ही सुभीता होगा कि तनिक देहली कालेज का रवैया देख लें। कहना न होगा कि उक्त कालेज के भीतर एक ऐसी संस्था भी कायम की गई थी जिसका नाम था 'वर्नाक्यूलर ट्रांसलेशन सोसायटी', और जिसका काम था देश-भाषाओं के द्वारा उस 'अपूर्व' ज्ञान को देशवासियों में भर देना जिनका उन्हें पता तक न था। खैर, उसने किया क्या, तनिक इसे ही देख लीजिए। उसकी रिपोर्ट में कहा गया है कि

"अगरचः यह अंजुमन अँगरेजी, अरबी, संस्कृत और फारसी जबानों से आला दरजे की किताबें उर्दू, बंगाली और हिंदी में तरजमः करने के लिये कायम की गई थी, लेकिन सिवाय उर्दू के बंगाली और हिंदी में कोई तरजमः नहीं हुआ।" (उर्दू, जुलाई, १९३९ ई० पृ० ४७२

क्यों नहीं हुआ, जरा इसे भी गौर से सुन लें—

"सिक्रेटरी ने अपनी रिपोर्ट में इसकी कई वजूह बताई हैं। एक तो यह कि अंजुमन का सरमायः महदूद है और फिलहाल हमें अपनी कोशिशें सिर्फ एक जबान तक महदूद रखनी चाहिएँ। दूसरे, अलावः इस अम्र के कि बंगाल से सिर्फ एक ही साहब ने चन्दः अता किया है, बंगाली जबान बनिस्बत हिंदुस्तानी के ज्यादह तरक्कीयाफ्ता है। तीसरे, उर्दू तरजमों के लिये देहली कालेज सब से मौजूँ जगह है। हिंदी और बंगाली तरजमों के लिये इस क़दर मौजूँ नहीं। चौथे, हिंदुस्तानी जबान कम्पनी के इलाकों (बिहार और बालाई सूबों) की रिआया के

लिये हिंदी के मुक़ाबिले में ज्यादह अहमियत रखती है और *अग़लब है कि रफ्तः रफ्तः यही ज़बान इन इलाकों के गवर्नमेंट मदारिस और कालेजों में जरियः तालीम हो जायगी।*" (वही पृ० ४७२-३)

याद रहे, उर्दू की इस 'अहमियत' का कारण कुछ यह नहीं है कि वह हिंदुस्तान की लोकभाषा है बल्कि साफ यह है कि—

'उर्दू बिहार और सूबाजात मग़रिबी में सरकारी ज़बान है और इसलिये हिंदी से ज्यादह इसकी अहमियत है।" (वही पृ० ४७३)

कारणों की मीमांसा से काम न चलेगा, बल्कि और आगे बढ़कर कुछ सैयद अहमदखाँ बहादुर की * साइंटिफिक सोसायटी की करतूत देखनी होगी। हाँ, यहाँ इतना नोट भर कर लेना होगा कि—

---

* साइंटिफिक सोसायटी की रचना जिस दृष्टि से की गई थी वह राष्ट्रहित के लिये साधु न थी। सैयद अहमद खाँ की इस सूझ का सूत्रपात सन् १८६३ ई० में हो तो गया, पर उसका समुचित प्रकाश उसकी जन्मभूमि गाजीपुर में न हो सका। अलीगढ़ में ही उसको फलने फूलने की जगह मिली। सन् १८५७ के देशव्यापक विप्लव के बाद सर सैयद को जो मुसलिम चिंता हुई उसी के फल स्वरूप उक्त सोसायटी को जन्म मिला और उसी के कारण उनके लिये हिंदू तथा हिंदी कुछ खट्टे हो

"इसमें जरा शुबह नहीं कि उर्दू को इल्मी जबान बनाने की यह पहली सई थी जो खास असूल और कायदह के साथ अमल में आई" (वही पृ० ४८)

पाठकों को याद होगा कि सैयद अहमद खाँ बहादुर यों बाद के प्रसिद्ध 'सर सैयद' बाबू शिवप्रसाद बनारसी से इसीलिये चिढ़ अथवा भडक गए थे कि वह कभी कभी उर्दू के साथ हिंदी का भी नाम ले लिया करते थे और चाहते थे कि उर्दू के साथ ही साथ हमारी देशभाषा हिंदी भी फूले फले। निदान उन्होंने एक दिन सैयद साहब की सोसायटी के मेम्बरों से कह दिया कि कुछ लोकभाषा की भी सुधि लेनी चाहिए। कहना तो सोलहों आना ठीक था पर सैयद साहब को रुचना तो दूर रहा, उलटे और भी चुभ गया। उन्होंने चट निश्चय कर लिया क्या, तुरत जी जान से ठान ली कि जीते जी तो 'मफतूहों' की जबान को सरकार तक पहुँचने न दूँगा और बाद में भी वह सबक सिखा जाऊगा कि हिंदी कभी उर्दू के साथ देश में पनप भी नहीं सके। हुआ भी यही। पर बात उनके वश की न थी! हिंदी अपने बल बूते पर दिन दूनी और रात चौगुनी बढने लगी और अ त में विवश हो सरकार को भी उसे अपनाना पडा। हिंदी राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद से भी आगे बढ गई और देखते देखते सर्वत्र उसका बोलबाला हो गया। 'सितारे हिंद' को 'भारतेंदु' ने मात कर दिया।

हाँ, तो हमारा दावा है कि 'हिंदी' के लिये बाबू शिवप्रसाद'

का आग्रह करना बिलकुल बजा था। क्योंकि हम अच्छी तरह जानते हैं कि उक्त सोसायटी का सर्वप्रथम नियम था—

"उन उलूम व फनून की किताबों का जिनको अंगरेज़ी ज़बान में या यूरप को किसी और ज़बान में होने के सबब हिंदुस्तानी नहीं समझ सकते, ऐसी ज़बानों में तरजमः करना जो हिंदुस्तानियों के आम इस्तमाल में हों" (उर्दू जुलाई सन् १९३५ ई० पृ० ५४७)

अब क्या कोई सज्जन कलेजे पर हाथ रख कर, सचाई के साथ कह सकते हैं कि उक्त बाबू साहब ने हिंदी का नाम 'मुसलमानों की निशानी' को मिटाने के लिये पेश किया था ? अथवा उनके सामने हिंदी का वह जन्मसिद्ध अधिकार था जिसका विधान स्वत. उक्त सोसायटी के प्रथम नियम में ही कर दिया गया था ? बात यह है कि आरंभ से ही हिंदी के विपक्षियों की यह कूटनीति रही है कि येनकेन प्रकारेण हिंदी को झाँसापट्टी दे अपना मतलब गाँठ लिया जाय और फिर यह हुल्लड़ कर दिया जाय कि हिंदी तो कल की बनावटी जबान है। भला वह 'मुल्की ज़बान' उर्दू के सामने क्या ठहर सकती है। इतना ही नहीं। इधर तो उर्दू वालों ने अपना यह धर्म ही समझ लिया है कि जहाँ कहीं पुराने ग्रंथों या पोथियों में 'हिंदी' या 'हिंदुस्तानी' शब्द दिखाई दे, चट उसे उर्दू करार दे दो और यह प्रत्यक्ष दिखा दो कि उर्दू कितनी पुरानी है। उर्दू की इस घोर सनक का परिचय अन्यत्र कराया जायगा। यहाँ बस इतना जान लीजिए

कि डाक्टर मौलाना अब्दुल हक जैसी हकपरस्त हस्ती के हाथों आज हक का खून सरासर इसलिए हो रहा है कि उर्दू दर हकीकत एक इम्तयाजी' जबान है जो इस मेल-मिलाप के युग में अपने बूते अपने आप चल नहीं सकती। इसलिये उसके प्रचार एव प्रसार के लिये जाल रचना आवश्यक है। उनकी यह जाल-लीला यहाँ तक पहुँच गई है कि उसको देखकर लज्जा आती है और इस बात का दुःख होता है कि हमारा एक हमदर्द व्यर्थ के विवाद में इतना खो गया है कि उसे सत्य की चिंता नहीं। उसे उर्दू का प्रेम नहीं, वरन केवल व्यर्थ का व्यामोह है। देखिए न,'गार्सा-द-तासी के व्याख्यान' में किस ढब से 'हिंदुस्तानी' को 'उर्दू' कर दिया गया है और सत्य के क्षेत्र में धाँधली की मुनादी फेर दी गई है। गार्सा-द-तासी का कहना है—

'लखनऊ में केनिंग कालेज रोजबरोज तरक्की कर रहा है। इस वक्त इस कालेज में तीन जमाअतें हैं—

(१) हिंदुस्तानी (उर्दू) की जमाअत।

(२) अंगरेजी की जमाअत।

(३) आला जमाअत।

हिंदुस्तानी की जमाअत में अंगरेजी नहीं पढ़ाई जाती, बल्कि हिंदुस्तान की इल्मी ज़बानों की तालीम दी जाती है। इस जमाअत में एक सौ पैंतालीस तुल्ब. हैं। इनमें सात फारसी सीखते हैं, तीस संस्कृत और सत्तर अरबी की तहसील करते हैं।"
(खुतबात गार्सा-द-तासी, १८६७ ई० का व्याख्यान, अंजुमन

तरक्की उर्दू, औरंगाबाद, सन् १९३५ ई० पृ० ६०६)

स्पष्ट है कि 'हिंदुस्तानी की जमाअत' में 'फ़ारसी' 'संस्कृत' तथा 'अरबी' की शिक्षा दी जाती है न कि एकमात्र 'उर्दू' याने हिंदुस्तानी की। फिर भी हिंदुस्तानी (Indian) की जगह 'उर्दू'* लिखना इसलिये जरूरी हो गया कि कहीं इसका मतलब हिंदी' याने हिंदुस्तानी न समझ लिया जाय। वह भी उस समय जब इसका पूरा पूरा पता था कि गार्सां-द-तासी की यह बार बार दुहाई है कि उनकी 'हिंदुस्तानी' का ठेठ अर्थ है हिंदी और उर्दू, याने दोनों ही—ठीक कांगरेसी अर्थ।

हैरान न हों बल्कि और भी तत्परता के साथ गौर करें और देखें कि मामला क्या है। प्रसंग कचहरी का है। इसलिये कानून की बात लीजिए। याद रखिए कि उर्दू के एक परम खोजी अदीब ने उर्दू में 'कानूनी तराजम' का 'पहला दौर' माना है

*उर्दू की यह चेष्टा इतनी घोर और निंदनीय हो गई है कि अब उसके साहित्य के क्षेत्र में सत्य का नाम तक नहीं है। जिधर देखो उधर ही 'हिंदी, और 'हिंदुस्तानी' की जगह उर्दू लिखा जा रहा है और दिलेरी के साथ न जाने किस मुंह से यह दावे के साथ सिद्ध किया जा रहा है कि उर्दू का इतिहास इतना पुराना है, उर्दू इतने लोगों की 'मादरी जबान' है। यह सनक यहाँ तक हावी हो गई है कि हैदराबाद की गत मर्दुम-शुमारी भी इसकी लपेट में आ गई है। अतएव राष्ट्रप्रेमियों को इससे सजग हो जाना चाहिए।

सन् १८५१ ई० से सन् १९०० ई० तक। क्यों १८५१ ई० से ? इसका उत्तर स्पष्ट है, पर उनके लिये जो उर्दू की सच्ची हकीकत से अच्छी तरह वाकिफ हैं और उर्दू को मेल-जोल की चीज नहीं बल्कि पक्की 'इस्तयाजी 'ईजाद' समझते हैं। बात यह है कि—

'सलातीन इसलाम के अहद से हुकूमत बरतानियः के अवायल तक हिंदुस्तान में अदालत व दफातिर की कारवाइयाँ फारसी जबान में हुआ करती थीं, और अगरचे ईस्ट इंडिया कंपनी के ज़माने से सन् १८३५ ई० में उर्दू जबान की तरवीज के एहकाम दफ्तर के लिये जारी हो गए थे, मगर इसके बाद भी बहुत दिनों तक अंगरेजों के फैसले और दफ्तर का कारबार फारसी ही में होता रहा। दस बारह बरस के बाद जब उर्दू नवीसी शुरू हुई उस वक्त भी जबान की इब्तदाई हालत के सबब से एक मुद्दत तक अन्दाज बयान में इस क़िस्म की गंजलक रही कि उस उर्दू के मतालब का समझना कोह कन्दन वो काह बर आवरदन का मसदाक रहा।" (तारीख नस्र उर्दू, मु० यू० प्रेस, अलीगढ़ सन् १९३०, पृ० ३८९)

१८३५ ई० के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि 'दफ्तर हुकूमत में उर्दू जबान का अमल व दखल सन् १८३५ ई० में हुआ,' यह बिल्कुल गलत है। सही यह है कि—

"सन् १८३७ ई० में सरकारी गवर्नमेंट ने सूबों की गवर्नमेंटों को इजाज़त दी कि बजाय फारसी ज़बान के जो उस वक्त तक

सरकारी 'दफ़ातर की ज़बान थी, अपने अपने सूबः की ज़बान जारी करें।" (मुसलमानों का रोशन मुस्तक़बल, वही, पृ० १३८)

यह तो कहने की बात नहीं कि यदि सचाई और नेक-नीयता से काम लिया जाता तो उक्त आज्ञा के अनुसार कचहरियों में नागरी, बंगला, उड़िया आदि भाषाओं को ही स्थान मिलता क्योंकि—

"अदालत दयार मगरिबा और बिहार के अज़ला के मुहकमों से बइबारत* उर्दू व ख़त नागरी और अज़ला दयार बंगाले में बइबारत व ख़त बंगलह् व ज़िला कटक वग़ैरह् परगनों की कचहरियों से बइबारत व ख़त उड़िया मतबूआ या मरक़ूम होकर सादिर होंगे।" (तारीख़ नस्र उर्दू, वही, पृ० ४७६ पर अवतरित)

पर हुआ यह है कि उक्त सभी प्रांतों में फारसी भाषा की जगह धीरे धीरे एक अजीब बनावटी भाषा, जिसे उर्दू कहते हैं, दी गई और फ़ारसी लिपि तो बदस्तूर बनी रही। उर्दू के बारे में

* 'बइबारत उर्दू व ख़त नागरी' पर विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है। यहां हम इस विवाद में पड़ना नहीं चाहते कि यह हमारे राष्ट्र जीवन का वह शुभ समय है जब 'उर्दू' को 'नागरी' ख़त से नफ़रत न थी और सरकार शौक़ के साथ उर्दू के साथ नागरी का विधान करती थी जो उर्दू प्रेमियों को भी प्रिय ही था। पर आज तो नागरी लिपि का नाम भी नागवार मालूम हो रहा है। क्यों, क्या आप इसका कारण बता सकते हैं?

हम बराबर कहते आ रहे हैं कि दरबारी जबान होने के कारण उसकी माँग बढ़ी और धीरे धीरे उसे वह सारा काम करना पड़ा जिसके लिये मुगल दरबार में कभी फारसी व्यवस्थित थी। फारसी की जगह उर्दू इसीलिये चालू हो गई कि दरहकीकत वह फारसी की चहेती थी। यदि वह फारसी की सगी न होती तो आज उर्दू का कहीं नाम तक सुनाई नहीं देता और सभी एक ही रंग में रँगे दिखाई देते। पर अफसोस! हमने असली को नकली करार दे दिया और दोगली को गले लगा उर्दू को भी बरबाद कर दिया। सचमुच कचहरी की जबान उर्दू भी नहीं है। दरहकीकत वह दोगली क्या तिगली है जिसे सिर्फ लिगड़मबाज ही पसंद करते हैं उर्दूदाँ हरगिज नहीं।

हाँ, तो विचारणीय बात यह थी कि उर्दू में कानून का आरंभ सन् १८५१ ई० में क्यों हुआ। क्यों उर्दू 'मुल्की' और 'मुश्तरक' जबान होने पर भी हिंदी से पीछे पड़ गई और मैदान में हिंदी के सामने तब दिखाई देने लगी जब फारसी को कचहरी से बिदा होने का सीधा परवाना मिल गया। जवाब निहायत आसान और माकूल यह है कि फारसीवालों ने सचमुच फारसी को बिदा न किया बल्कि उसे नीतिवश उर्दू के रूप में रख लिया। जब फारसी उठ गई तब उसकी जगह उसकी चहेती उर्दू को मिली और फारसीपरस्तों को एक अजीब राहत नसीब हो गई। उर्दू सरकारी जबान कायम हो गई और देश-

भाषाओं पर ठीक वैसी ही विपत्ति पड़ी जैसी कि आज 'मरहठी' और 'तिलङ्गी' पर निजाम* सरकार के राज्य में उर्दूपरस्ती के कारण पड़ रही है। उर्दू के चल पड़ने से पहले जो काम फारसी तथा देशभाषाओं में होते थे, वे अब केवल उर्दू में होने लगे। उर्दू के चालू करने का रहस्य यह रहा कि 'खत' अथवा लिपि तो समूची वही रही, हाँ भाषा की क्रिया और अव्यय में कुछ थोड़ा परिवर्तन हो गया, ऐसा थोड़ा परिवर्तन कि बात की बात में उसने देशभाषाओं को चर लिया और देश में सर्वत्र अशांति का बीज बो दिया। सचमुच हमारी जबान खींच ली और हम देखते ही देखते जानवर से भी बदतर हो गए। हम जिधर जोत दिए गए उधर ही शौक से दिनरात जुते चले जा रहे है। हाल तो यही है, आकबत की खुदा जाने।

कहाँ तो —

"जब हम उस अवस्था को ध्यान करते हैं, कि गांव गांव

* निजाम राज्य में देशभाषाओं पर जो विपदा आ पड़ी है वह कल की कोई खास चीज नहीं। उसका भी वहाँ एक जीता जागता इतिहास है। इस इतिहास का ठीक ठीक पता न होने के कारण सत्य के क्षेत्र में अजीब धाँधली मची है और लोग न जाने किस मुंह से उर्दू को हैदराबाद की 'मुल्की जबान' बता रहे हैं। उर्दू का कठोर आग्रह जिस हठधर्मी या आतंक के कारण हो रहा है वही तो यहाँ का मुसलिम धर्म है। फिर सच्चे इसलाम को वह धता क्यों न बताए?

म पाठशाला बैठ जावेंगे, और हमारे सारे स्वदेशी अपनी बोली में सुगम रीति से शीघ्रतर समस्त विद्या-उपार्जन कर, हिंदी कहावत के अनुसार—मोस्याने एक मत एक ही प्रकार के मनन चिंतन करेंगे, आलस्य और अनुद्योग छोड़ कर सब के सब भारतवर्ष की उन्नति में प्रवृत्त होंगे, कृपासिंधु दीनबंधु जगदीश्वर की सद्भक्ति में अनुरक्त हो कर दुष्कर्मों का त्याग करेंगे, आपस में भाई और मित्र की समान प्रीति रखकर एक दूसरे के सहाय होंगे, तो अनायास मुख से उस राजा की वृद्धि का आशीर्वाद निकलता है, जिसने प्रजा के हित ऐसा काम किया, और उस सर्वशक्तिमान परमेश्वर का गुणानुवाद, जिसने हम लोगों को ऐसा राजा दिया।" (भूगोल हस्तामलक, उपोद्घात पृ० ३-४, सरकुल प्रेस कलकत्ता, सन् १८५५ ई०)

और कहाँ हम देखते हैं कि लगातार पूरे सौ वर्ष तक जीजान से प्रयत्न करने पर भी 'अपनी बोली' तथा 'अपनी लिपि' को आज तक अच्छी तरह न अपना सके और व्यर्थ के प्रलोभन में पड़ कर न जाने किसलिये प्रतिदिन पीसे जा रहे हैं और तिसपर भी तुर्रा यह कि हम अपने इसी भाषा तथा इसी लिपि के प्रेम के कारण द्वेषी तथा हठधर्मी अथवा न जाने क्या क्या घोषित किए जा रहे हैं और इस बहादुर उदार सरकार के राज्य में अपने जन्मसिद्ध अधिकार के अधिकारी भी नहीं रह गए हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि जबान हमारी, कलाम उनका।

हो गया, सब कुछ हो गया, पर इतना न हु— — —

गरीबिनी नागरी को भी कचहरी में जगह मिलें जो न जाने कितने युगों से यहाँ की राष्ट्रलिपि रही है और अपनी इसी राष्ट्रीयता के कारण कंपनी सरकार की कचहरियों, कागजों, सिक्कों तथा मुहरों पर भी विराजमान रही है। क्यों? कारण वही हमारा चिरसाथी आलस्य और प्रमाद है। कायरता को ज्ञान और अकर्मण्यता को सन्यास समझने का जीता जागता परिणाम यह है कि आज हमें उसी नागरी के लिये रोना पड़ता है जो आज, इस गिरी दशा में भी समस्त देश की राष्ट्रलिपि है और अपने सहज गुणों के कारण विश्वव्यय हो रही है और जिसको पछाड़ने के लिये 'लाखों रुपये'* पानी की तरह बहाए जा रहे हैं। क्यों न बहाए जायँ? आखिर हमीं ने तो उन्हें इस धृष्टता का अवसर दिया है और प्रलोभन या पेट की पुकार में पड़ कर एक विलायती लिपि को जालपसंदी के कारण अपना लिया

*छापे के क्षेत्र में उर्दू नागरी तथा रोमन लिपि से बहुत पीछे रह जाती है और किसी प्रकार भी उनके समकक्ष नहीं ठहर सकती। उर्दू की इस कमी को दूर करने के लिये आज हैदराबाद कटिबद्ध हो गया है और आज तक उसकी खोज में न जाने कितना धन तथा कितना श्रम बरबाद कर चुका है। कारण कोई नया या अजीब नहीं बल्कि वही चिर परिचित पुराना व्यक्तिगत अभिमान है जो 'शाही शान' या 'फातेहो इम्तयाज' के रूप में आज भी विराजमान है और 'दीन' को दिन दहाड़े घोंट रहा है।

है ? फिर फसादी लोग फसाद क्यों न करें ? अपना जाल क्यों न बिछाएँ ? क्यों न नागरी को रसातल भेजने की चिंता करें और उसे कल की ईजाद कहे ? नागरी से पेट तो भर सकता है पर जाल के आधार पर पैसे की वर्षा तो नहीं हो सकती ? पढ़ने के लिये कमेटी तो नहीं बैठ सकती ? इस छल छद्म के युग में सच्चा होना ही तो महा अपराध है ! फिर नागरी की गुहार कैसी ! हिंदी की पुकार क्या ?

सन् १८६३ ई० की बात है। हिंदुस्तानी के परम प्रेमी प्रसिद्ध फ्रांसीसी पंडित गार्सा-द-तासी का कहना है—

"हिंदुस्तान के सिक्कों पर उनकी कीमत लिखने का जब मसलह दरपेश था तो यह फैसलह हुआ कि हिंदी और उर्दू हुरूफ में उसे लिखना चाहिए।" (खुतबात, वही पृ० ३७३)

सिक्कों पर, चाँदी के सिक्कों पर उर्दू हुरूफ को तो [जगह मिली पर हिंदी अक्षरों को आज तक न मिल सकी। मिलती भी कैसे ? हिंदियों को तो इसकी चिंता नहीं। रही गैरों की बात ? तो उन्हें क्या पड़ी है कि इसकी खोज करें कि देश के प्रधान सिक्कों पर किस देश की भाषा तथा किस देश की लिपि है। उनके लिये तो बस इतना काफी है कि उन पर अँगरेजी की छाप सुरक्षित है। फिर चाहे उन पर हिंदी रहे या फारसी, बात तो वही है। पर हमें उन दोस्तों से जो उन्हीं सिक्कों को उर्दू की मुल्की जबान साबित करने के लिये पेश करते हैं, पूछना यह है, कि आखिर आप की उर्दू का अर्थ क्या है ? क्या चाँदी

के सिक्कों की फारसी—लिपि ही नहीं बल्कि भाषा भी—वस्तुतः हमारी 'मुल्की जबान' और 'मुल्की खत' है ? अरे गुमराही से बाज आ, बदगुमानी से परहेज कर, जरा सोचो तो सही कि चाँदी के सिक्कों पर क्यों अभी फारसी ही बनी है और गीलट के सिक्कों पर अन्य देश भाषाओं के साथ उर्दू को भी जगह मिल गई है—पर फारसीपन के साथ। याद रहे यदि आपने अपने आप ही इस उलझन को सुलझा लिया तो आपने यह अच्छी तरह जान लिया कि वास्तव में हिंदी-विरोध का अर्थ क्या है और कहाँ तक हमारी बहादुर सरकार बात की पक्की तथा धनी है।

देखिए—

"Let the people talk and write in whatever they think their colloquial Pedantry must be Kept down, and simple, correct, idiomatic, refined, and elegant Hindustani (*Hindustan's Vernacular*) must be encouraged......Primary Schools did not flourish much in the Punjab because Muhammadans there had Persian characters and Persian books introduced in them The secret of the success of Bengal lies in that nutshell. There they have the same national characters for the courts the mansions, the firms, the farms, the shops, the

cities, and the villages Use Hindi characters in the Courts of North Western Provinces and Oudh, and I am ready to undertake again, even in this my old age, the duties of an Inspector till I beat Bengal in the number of boys under instruction or else lose my pension"

यह है बाबू शिवप्रसाद की घोषणा जिसके लिये बेचारे इतने बदनाम हुए हैं और जिसके लिये यह कहा गया है कि द्वेषवश वे मुसलमानों की निशानी को मिटाना चाहते थे। वे जो चाहते थे वह इतना स्पष्ट है कि उसमें किसी को कुछ सदेह हो ही नहीं सकता। सन् १८८२ के 'एजूकेशन कामिशन' के सामने उन्होंने जो विचार पेश किया वह आपके सामने है। उसमें साफ साफ कहा गया है कि शिक्षा के प्रसार के लिये आवश्यक है कि नागरी लिपि का सर्वत्र प्रचार हो और कचहरी में भी उसे जगह मिले। अरबी या फारसी या उर्दू लिपि के विषय में याद रहे कि—

"The Arabic character, beautiful to look at, is an enemy to printing, and an enemy to the diffusion of knowledge" (Higher Persian Grammer Calcutta University, 1919 P. 3)

डा० सी० फिल्लाट महोदय जैसे मर्मज्ञ के उक्त निष्कर्ष को सत्य सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। यह नित्यप्रति के अनु

भव की* स्वयसिद्ध बात है। अस्तु, अब जरा मिर्जा इरफान अलीबेग साहब की बात सुनिए। उनका ठोस दावा है—

"जो शख्स नागरी खत, अच्छी तौर से लिख पढ सकेगा वह इस बात को भी समझ सकेगा कि नागरी खत के सिवा किसी और खत मे सहीह तलफ्फुज नहीं लिखा जा सकता।" (नागरी खत, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, सन् १९०० ई० ? पृ० २२)

और यह भी याद रहे कि—

'अगर आप मुसन्निफ की इस हिदायत के मुताबिक पूरा अमल करेंगे तो इसमे जरा भी शक नहीं है कि सिर्फ सात ही दिन में आप नागरी खत जरूर लिख पढ सकेंगे।" (वही पृ० २)

---

*नागरी लिपि के गुणगान से खीझ कर एक उर्दू के हकपरस्त लेखक ने उर्दू के एक अद्वितीय त्रैमासिक पत्रिका 'उर्दू' में एक बहुत लम्बा सा लेख लिखा है और इस बात की प्रणापण से घोर चेष्टा की है कि लोग नागरी लिपि को छोडकर अरबी फारसी या उर्दू लिपि पर फिदा हो जाय। पर एक बात उसे भी खटक जाती है। उसे भी हिंदी या ठेठ शब्दों के व्यवहार के लिये नागरी लिपि का विधान अपने उसी निबंध में कर देना पडता है। क्या इसलिये नहीं कि दर हकीकत उर्दू लिपि भ्रामक और अपूर्ण है ? सत्य से उसका कोई भी सीधा सबध नहीं है ? यदि हाँ तो, उर्दू लिपि का गुणागान क्या ? यदि नहीं तो उक्त विधान का अर्थ क्या ?

नागरी के गुणगान की आवश्यकता नहीं। सभ्य संसार आरंभ से ही उसका कायल है। अतएव यहाँ पर केवल इतना भर स्पष्ट कर देना है कि लोकमंगल तथा राष्ट्रहित की शुद्ध दृष्टि से ही बाबू शिवप्रसाद ने नागरी का पक्ष लिया था और रोमन† लिपि की हिमायत करने के बाद, समझ आ जाने पर, आजीवन नागरी का व्रत लिया था, कुछ द्वेष या हठधर्मी के कारण कदापि नहीं। दुनियाँ जानती है कि उनकी भाषा-नीति उर्दू के सर्वथा अनुकूल थी और उनकी 'आमफ़हम' ज़बान उर्दू वालों की आम फ़हम, ज़बान से कुछ भी भिन्न न थी। फिर भी 'नागरी' की हिमायत के कारण उन पर उस विष-बीज का लांछन लगा जो आज 'हिंदी-उर्दू विवाद' के रूपमें चारों ओर अच्छी तरह से लहरा रहा है और उसके सच्चे विधाता सर सैयद अहमद खां आज हिंदी-उर्दू एकता के पेशवा माने जाते हैं। यह है हमारी खोज और सत्यनिष्ठा का सच्चा स्वरूप जिसे हम एक खुदा की देन के रूप में शौक से कबूल कर रहे हैं और 'हक़' को जहन्नुम का ठेकेदार बना रहे हैं।

खैर, थोड़ा यह भी जान लीजिए कि—

---

† आरंभ में बाबू शिवप्रसाद रोमन लिपि के पक्षपाती थे, किंतु बाद में उन्होंने रोमन लिपि का भी विरोध किया और अपनी सहज साधुता के कारण नागरी को ही महत्व दिया और शिक्षा-प्रचार के लिये उसी को उचित ठहराया। उसी को सुगम तथा सुबोध माना।

"देखने में फ़ारसी से उर्दू सरल जान पड़ती है और फारसी के बदले में उर्दू का प्रचलित करना सुगम जान पडता है और इसी से इसका प्रचार किया गया, परन्तु विचार करके देखा जाय तो इससे महा अनिष्ट हुआ है और देश में विद्या की चर्चा बहुत ही घट गई तथा सर्वसाधारण को भी कठिनता पडी और समय समय पर हाकिमों को भी धोखा खाना पडता है। फारसी एक स्वतंत्र विद्या है उसे तब तक कोई नहीं समझ सकता जब तक कि वह उसे अच्छी तरह पढ़ न ले, इसलिये जब तक फारसी थी लोगों को उसमें पूरी योग्यता प्राप्त करनी पडती थी, दूसरे फ़ारसी में स्थानों और व्यक्तियों आदि के नामों के अतिरिक्त और सब बातें उसी भाषा के शब्दों में लिखी जाती थीं जिनको कि नियमपूर्वक पढ़े बिना कोई समझ नहीं सकता था, और तीसरे जो अक्षर में लिखे जाते थे वही भाषा रहती थी। इससे कुछ का कुछ नहीं पढ़ा जाता था। इसके ठीक विपरीत उर्दू की दशा है, एक तो उर्दू कोई भाषा नहीं है। यह फारसी, अर्बी और हिंदी के आधार बिना बन नहीं सकती और इन तीनों भाषाओं में योग्यता प्राप्त करें, ऐसे कम लोग होते हैं। इससे उर्दू पढ़कर कोई विद्वान नहीं बन सकता। दूसरे अक्षरों को पढ़ने लगे और उसमें अपने हृदय के भावों को लिखने का अभ्यास हो गया अब और कौन समय लगावै। उसी अधकचरी अवस्था में रह गए। उनके विद्वत्ता की यह दशा है कि यदि उन्हें 'साबित' लिखना है तो वह यह नहीं जानते कि 'सा'

को 'से' से लिखें या 'स्वाद' से या 'सीन' से, योंही 'त' को 'ते' से लिखें या 'तो' से, क्योंकि जिस भाषा के शब्द उसमें आए हैं उससे तो वह परिचित है ही नहीं करें क्या निदान विद्या की गंभीरता सर्वथा जाती रही। तीसरे अक्षर भ्रामक और एक उच्चारण के कई अक्षर जैसे 'अ' के दो, 'त' के दो, 'स' के तीन, 'ज' के तीन, 'र' के दो, इत्यादि। तथा मात्राओं का काम केवल जेर, जबर, पेश के चिन्हों से लिया जाता है। वह भी प्रायः लिखे नहीं जाते केवल अनुमान से समझे जाते हैं। ऐसी दशा में दूसरी भाषा के शब्द इन अक्षरों में कभी ठीक ठीक पढ़े लिखे नहीं जा सकते और यही सारी कठिनाइयों की जड़ है। चौथे फारसी के प्राचीन अदालती कागजात जहाँ तक देखे जाते हैं प्रायः नस्तालीक अर्थात सुपाठ्य लिखे हुए मिलते हैं क्योंकि कठिन भाषा होने के कारण लोग उन्हें सबसे पढ़े जा सकें इसलिये साफ लिखते थे और सब लोग यह समझ कर कि यह भाषा सबकी समझ मे आनेवाली है इस ओर ध्यान ही नहीं देते और ऐसा शिकस्तः लिखते हैं कि दूसरे की कौन कहै प्रायः स्वयं ही नहीं पढ सकते।" (ना० प्र० पत्रिका, १८९८ ई० पृ० ११६-७)

स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास जी के उक्त कथन मे यदि किसी को हठधर्मी या पक्षपात दिखाई दे तो कृपया वह एक बार उर्दू के धुरंधर कवियों के दावों पर विचार कर ले और जरा बता तो दे कि अभी कल के कवि सम्राट् मौलाना 'दाग' के इस कथन

का अर्थ क्या है कि—

"नहीं खेल है 'दाग़' यारों से कह दो,
कि आती है उर्दू ज़बाँ आते आते।"

याद रहे, डाक्टर इकबाल जैसे विश्व-विख्यात फारसी के अनूठे कवि को भी जीवन भर नाक रगड़ने पर 'उर्दू' नहीं आई और वह कभी उर्दू के 'ज़बाँदाँ' न बन सके। फिर तो और किसी, विशेषतः हमारी आप की बात ही न्यारी है। तभी तो बंगाल के लेफ्टेंट गवर्नर श्री कैम्बेल महोदय का दावा है—

"किताबों मे चाहे इस जबान, (उर्दू) के मुतल्लिक कोई कुछ लिखे लेकिन हकीकत यह है कि उर्दू जबान अह्ल दरबार और देहली की तवायफों† की जबान है। इसको मुल्क की

† 'तवायफों की ज़बान पर हँसने या गुर्राने का काम नहीं बल्कि याद कर लेना चाहिए कि उर्दू की असली हकीकत क्या है और क्यों डाक्टर अब्दुलहक सरीखे उर्दू अदीब की निगाह में उर्दू औरतों की ज़बान है' और क्यों लोग अपने बच्चों को उर्दू की तालीम के लिये अपने आप ही तवायफों के पास भेजते थे और उन्हें जबान का उस्ताद समझते थे। कहना न होगा कि श्री कैम्बेल महोदय को उर्दू के घरघाट का पूरा पूरा पता था और वह उसकी नब्ज को पहचानते भी खूब थे। उन्होंने उसकी जो छानबीन कर दवा की वह निहायत ठीक और दुरुस्त थी। उनका निदान सर्वर और सटीक था, किसी

मुख्वज: जवान नहीं कह सकते। मैंने पूरा इरादा कर लिया है कि जहाँ तक मेरा बस चलेगा इस जवान की तालीम को जो हमारे मदरसों में दी जाती है, रोकने की कोशिश करूँगा। मैं फ़ारसी ज़बान के मदाहों में हूँ। यह एक नफीस और पुर-तकल्लुफ ज़बान है। अगर फारसी जबान की तालीम दी जाय तो मुझे कोई एतराज नहीं बशर्ते कि हालात ऐसा करने के मुवाफिक हों। लेकिन बिगड़ी हुई अरबी और बिगड़ी हुई फारसी के मेल से जो जबान तैयार की गई है जिसमें हिंदुस्तानी के कुछ थोड़े से अफ़आल वो हुरूफ़ फ़जाइय: (Conjunctions) शामिल कर लिए गए हैं जिसे उर्दू कहते हैं, हरगिज़ इस काबिल नहीं कि उसकी तालीम दी जाय।" (उर्दू, वही जुलाई सन् १९३८ ई० पृ० ५२०)

कदाचित् अब यह कहने की आवश्यकता न रही कि क्यों श्री कैम्बल महोदय ने बिहार की कचहरियों से उर्दू को निकाल दिया और क्यों उसकी जगह नागरी या हिंदी को चालू किया। पर एक बात याद आ गई। उन्हीं मौलाना हाली ने इस पर

अज्ञान पर अवलंबित या किसी प्रमाद या भ्रम का शिकार नहीं। विचार करने की बात है कि एक फारसीभक्त सपूत ने उर्दू का वहिष्कार अथवा निषेध क्यों कर दिया। कारण लोकमंगल और सत्यनिष्ठा के अतिरिक्त और क्या है? कूटनीति तो कही जाती जब दोनों को एक साथ ही त्याग दिया जा

रग चढा कर उर्दू की हिमायत की है और तमाम हिंदियों को गुमराह कर दिया है जिन्हें उर्दू में सिर्फ उतना ही अश फारसी अरबी का दिखाई देता है जितना कि 'आटे मे नमक' उनका कहना है—

'लेफ्टेंट गवर्नर बगाल भागलपुर की साइ टिफिक सोसायटी में आए और सोसायटी की तरफ से उनको ऐड्रेस ऐसी उर्दू मे दिया गया जिसमे इबारत आराई को गर्ज से अरबी और फारसी क अल्फाज कसरत से दाखिल किए गए थे। और उसका समझना एक ऐसे यूरोपियन हाकिम को जो हमेश बगाल में रहा हो आसान न था। विहार के तालीमयाफ्त हिंदू पहले ही स तहरीक कर रहे थे कि जिस तरह बगाल मे बगल जबान और बगल खत अदालतों मे जारी हो गया ह उसी तरह सूब बिहार में बिहारी जवान और कैथी हर्फ जारी किए जायें। चूकि हिज आनर ऐड्रेस के बहुत ही कम अल्फाज समझे थे उन्होंने कहा कि जिस जबान में यह ऐड्रेस पढा गया है यह हरगिज मुल्की जबान नहीं है और यह जबान बिहार में जारी नहीं रह सकती। चुनाच उन्होंने चद रोज बाद हुक्म दिया कि बिहार की तमाम अदालतों मे कैथी हर्फ और जो जबान कैथी हर्फों में लिखी जाती है जारी हो"
(हयात जावेद, वही, प्रथम भाग, पृ० १४१)

विचार करने की बात है कि जिस बिहार के कलक्टरो को सन् १७९३ ई० में यह आदेश मिला था कि अपनी मुहरों

पर हिंदुस्तानी भाषा और नागरी लिपि को स्थान दें (रेग्यूलेशन २ से० ५, १ मई सन् १७९३ ई०) उसी बिहार की अदालतों में न जाने किस आधार पर एक ऐसी भाषा का प्रचार हो गया जिसको उक्त लेफ्टेंट गवर्नर साहब ने बिगड़ी अरबी और बिगड़ी फारसी का एक देशी रूप कहा है। सौभाग्य से इस समय हमारे सामने उक्त साहब का वह कथन मौजूद है, जिसे झुठलाने की मौलाना हाली इस तरह कोशिश कर रहे हैं और पाठकों पर यह रंग जमाना चाहते हैं कि अज्ञानवश उक्त महोदय ने उर्दू की जगह न जाने किस जबान को चालू कर दिया जो 'कैथी हर्फो' में लिखी जाती है। मौलाना हाली तो अब नहीं रहे, पर हम उनके हमजोलियों को साफ साफ जता देना चाहते हैं कि वह जबान हिंदुस्तानी है 'हिंदुस्तानी'। वही हिंदुस्तानी जिसे कंपनी सरकार ने आरंभ में लोकभाषा के रूप में अपनाया था और फारसी के साथ उसी तरह कचहरियों में चालू रखा था जिस तरह देहली दरबार अथवा मुगल सरकार ने। विश्वास न हो तो कृपया स्वर्गीय बाबू राधाकृष्ण दास के इस कथन पर ध्यान दीजिए और स्वयं देखिए कि तथ्य क्या है। उक्त बाबू साहब कहते हैं कि—

"औरंगजेब के उत्तराधिकारियों को अपने झगड़ों और मुसलमानी राज्य के जड़ खोदने से अवकाश कहाँ था जो कुछ परिवर्तन करते? वही प्रथा प्रचलित रही। इसके प्रमाण में मेरे अधिकार में उस समय से लेकर अंगरेजी राज्य के आरंभ

तक इसी तरह के अनेक किबाले आदि वर्तमान हैं परन्तु उनको प्रकाशित करना अनावश्यक समझ कर मैं ठीक इसी तरह के अगरेजी राज्यारंभ के एक किबाले के हिंदी अंश की नक़ल उद्धृत करता हूँ ।

मुहर काजी की फारसी में	मुहर मुफ्ती की फारसी मे

(फ़ारसी का किबाला)

.. ..

सवत १८६७ मी० जेठ सुदी १ बार सुभ दीने चीकरी करता धवल वोझा गजराज वोझा के बेटा मोहकम वोझा के पोता बराभन बीच कजाये बुलदै बनारस के हाजिर आये कै एकरार कीया की एक मंजिल बाग समेत चारिबदीवार ईंट समेत जमीन इमारत महला कासीपुरा जो बनारस में है पैमाइस पीरन राज जुमीला जमीन गज ११५८)। २ बहर कीता पहीला तूल पूरब पछींव समेत दोनों दीवार गज ८७।।) तरफ़ दखिन गज ४४) तरफ उत्तर गज ४३।) करार अविया ४३।।)।।। अरज उत्तर दखीन समेत दोनों दीवार गज २६।)।।। मोकसर गज ११४३।।)। २ बहार कीता दूसर वा खोची तरफ पूरब तूल उत्तर दखीन गज ४) पूरब पछींव गज १।।) मोकसर गज ६) वा इमारत एक बगला खपरापोस तरफ से उत्तर वा एक घर खपरापोस तरफ दखीन वा कुआँ पका वा एक दलान तरफ पूरब वा दो

दरखत दासील बाग बीके मों है तेकी चारो हद—

पूरब तालाब, पछीव गली, उत्तर गली, दखीन गली, चलती मैदागीन चलती दुवा-खास, वा म—

रा पनारा दिल गनेस
जो बड़े वा
दुआरा प-
नारा वा-
तीन खीर-
की बाला
खाने की इ
घर है

ममलूका खरीद मेरा है वा केवाला समेत मोहर हजरत तुमारे के पास रखता हों वा मैं अब तको बीना सरोकत दूसरे के ऊपर उसके काबीज हों अब तमामी बाग कीता २ बदले रुपैआ =७१) सीका हाली आधा रुपैआ ४३७।) बदसत हुकुमचद बीहारीलाल के बेटा ठाकुर दास के पोता अगरवाला तीसके हाथ बुडा बुड़ा कै (?) वेचा वेचा रुपैआ सभ दाम दाम खीरीदार से ले कै अपने खरच में ले आया। मैं तब औमा खरीदार का सलाम भया खरीदार कीता २ ऊपर कबुजीअत अपनी ऊपर ततामी बाग जमीन वै पर काबीज कीया मैं खरीदार मजीलीस में हाजीर था मोल जमीन बाग रुपैआ पर कबूल करकै एकरार कीया की अपर कबुजियत वेचनेवाले ऊपर

तमामी बाग जमीन बै पर काबीज हुआ मैं आगे कोई इसका दावा झगरा करैं तौ झूठा झूठा इसका जवाब बेचने वाला करै खरीदार से इलाका नाहीं ता० २९ रबीउलसानी सन् १२२५ हीजरी द: हींदुइ संकरलाल गु: कानौगो……" (नागरी प्र० पत्रिका सन १८९८ ई०, पृ० १२२-३)

मौलाना हाली सर सैयद के इशारे पर चाहे जो कुछ रचते रहें पर इतना निर्विवाद है कि अपनी सत्यनिष्ठा और दिलेरी के कारण ही बंगाल के फारसी प्रेमी छोटे लाट साहब ने कचहरियों में हिंदी को दाखिल किया और उस गड़बड़ जबान को जिसे उर्दू कहते हैं, वहाँ से निकाल बाहर किया। मौलाना हाली का यह कहना है कि फारसी अरबी के अल्फाज उनकी समझ में एक यूरोपियन होने के कारण न आ सके, सरासर गलत है। उन्होंने स्वयं अपने भाषण में फारसी की प्रशंसा की है और यदि वश की बात होती तो शिक्षा के लिये फारसी को ही ठीक ठहराने में कुछ कसर भी न रखते। पर करें क्या, परिस्थितियाँ फारसी के बिल्कुल प्रतिकूल थीं। निदान उनको कहा पड़ा—

"हिंदी और हिंदुस्तानी के मुतल्लिक़ मेरा ख्याल है कि इन दोनों को इस तरह सिखाना चाहिए गोया वह दोनों एक जबान हैं। जो दो मुख्तलिफ रस्म खत में लिखी जाती हैं। मैंने अभी जो कुछ कहा है उससे अन्दाज: कर लिया गया होगा कि मैं क़दीम और दकियानूसी हिंदी की हिम्मत अफजाई के

खिलाफ हूं। हिंदी की जो क्लास की किताबें सूबाजात शुमाल मगरिबी (यू० पी०) में छापी जा रही हैं उनमें फारसी के ऐसे अल्फाज़ इस्तमाल किए जाते हैं जिन्हे लोग समझ सकें। अगर इन्हीं किताबों को फ़ारसी रस्मख़त में लिखा जाये तो वह ऐसी खालिस हिंदुस्तानी ज़बान बन जायेगी जिसको रायज देखने की मेरी दिली ख्वाहिश है।" (उर्दू, जुलाई सन् १८३८ ई० पृ० ५२२-३)

कितनी अजीब बात है कि जो 'हिंदुस्तानी' कंपनी सरकार के विधानों में सदैव 'नागरी' लिपि के साथ आती है और 'हिंदी' ही समझी जाती है वही अब एक हिंदी से अलग जबान मानी जाती है और उसके लिये फारसी रस्मख़त लाजिमी हो जाता है। गोया हिंदी को हिंदुस्तानी बनने के लिये अब फारसी खत को अपना लेना अनिवार्य हो गया। हिंदुस्तानी हिंदुस्तान की चीज़ नहीं फारस की ईजाद हो गई। फारसी जामा के बिना अब वह हिंदुस्तानी नहीं कही जा सकती। कैसा होता है दिनों का फेर! कैसा होता है हृदय का द्रोह! कैसा होता है आत्मा का विनाश! सब कुछ गया तो गया, पर फारसी भाषा के साथ नागरी लिपि क्यों चली गई? उसके साथ सती तो फारसी लिपि को होना था। फिर सूली पर नागरी लिपि क्यों चढ़ा दी गई? कहना न होगा कि इसी के उत्तर में आपका उदय छिपा है और इसी के हल में आपका भविष्य मँडरा रहा है। यदि समय हो, सुधि हो, आत्म-

संमान की भावना कुछ बची हो तो उठो, चेतो और आगे बढ कर उस नागरी का स्वागत करो जो अपनी सत्यनिष्ठा में अद्वितीय है। अरे, वह भारत की सबसे बडी देन है। उसे व्यर्थ ही देश से बाहर मत खदेड़ो। उसे हिंदुस्तानी के साथ बनी रहने दो। फारसी के साथ फारसी खत को विदा करो और फारसी चाशनी को हिंदी में भर दो। व्यर्थ का पाखंड न करो। दीन की आत्मा को पहचानो। नागरी का साधुता पर ध्यान दो। 'शिकस्त और 'जाल' से बचो। उसकी पुकार, गुहार और दुहाई को सुनो। उसकी पुकार है—

"गरीब परवर सलामत! दासी को सब देशवासी 'नागरी' ऐसा नाम लेकर पुकारते हैं। मैं संस्कृत देव की बडी पुत्री हूँ। यथार्थवादी हूं। अर्थात् जैसी लिखी जाती हूँ वैसी पढ़ी जाती हूँ। मेरी वर्णमाला में यह बडा गुण है कि दुनिया के चाहे जिस भाषा का शब्द हो शुद्ध और साफ़ लिखा पढा जा सकता है।

कृपानिधान!

अपने मुख से अपना बखान क्या करूँ। टुक श्रीमान विलसन, स्मिथ, मोनियर विलियम्स, मैक्समूलर, वेलन्टाइन, पेलन, ग्राउस, वगैरह साहबों ने जो मेरी प्रशंसा अपनी पुस्तकों में लेखनीबद्ध की है, देखिए तब मेरे गुण अच्छी तरह प्रगट हो जायेंगे। जो यह कहिए कि कचहरी में तेरी पहुँच नहीं तो हमारे पिता जी संस्कृत देव की बड़ी २ पुस्तकें जब कि शास्त्र

की, कानून की, कविता की, चिकित्सा की देवनागरी ही अक्षरों मे प्रस्तुत हैं—नित्यके काम मे, महाजनी पत्रादि में, हित मित्र के परस्पर पत्र व्यवहार करने में इन्हीं सुअक्षरों को काम मे लाना होता है—यह समझना बडी भूल है कि सरकारी दफ्तरों मे हिंदी जारी होने से कोई हर्ज कार सरकार या रैयत का होगा। बहुत से आफिसर अमले के कचहरी और कमेटियों में उर्दू ही बोलते और लिखते हैं पर हुजूर खूब समझ रक्खे कि जब यही लोग अपने घर में स्त्री बालकों के बीच जाते हैं तो एक तरफ से उनके प्यारे बच्चे तुतराते हुए उनकी गोद में आ चिपकते हैं और उनकी स्त्री मीठे मीठे सुर से बात-चीत करने लगती है। उस समय श्रीमान का समस्त व्योरा और का और हो जाता है, महाशयों के ये सब अर्बी और पारसी के शब्द भूल जाते हैं जिन्हे वे खोज २ अपनी बातो और लेखो मे घुसेडते हैं और सीधे सादे हिंदी के मधुर शब्द उनके मुँह से निकलने लगते हैं।

गरीबपरवर!

जब हमारे हाकिम लोग प्रजा के साथ अधिक से अधिक हेलमेल और प्रेम बढावेंगे तब यह सब भेद धीरे धीरे आप प्रगट हो जावेंगे।

बन्दे नेवाज! जब नागरी हरूफ के गुण जाहिर हैं और इन्हीं का हमारी मातृ भाषा होना साबित है तब यह प्रश्न जी मे होता है कि इसको कचहरियों में प्रचलित करने से क्या हानि

सूचित हैं और हमारे पुत्रों ने बार बार इस विषय पर आंदोलन किया तब गवर्नमेंट ने क्यों नहीं ध्यान दिया। इस विषय पर यदि मैं बढाव के साथ लिखूँ तो एक बडी पोथी बन जाय। परतु कृपानिधान! आपका अधिक समय एक ही बात पर नष्ट करना नहीं चाहता, इससे थोडी और बातें संक्षेप रीति से कह कर विनयपत्र समाप्त करूँगा।

जनाब आली!

नामानुदास ने सुना है कि श्रीमान लार्ड रिपन साहब की यह सम्मति है कि हिंदुस्तान मे प्रजा की भलाई उसी दशा में हो सकती है जब कि शिक्षा का असर सर्व साधारण में उत्पन्न हो और साधारण प्रजा में परस्पर मित्रता हो, इसलिये श्रीमान ने बहुत मुद्रा व्यय कर बडी सरगरमी से 'एडुकेशन' कमीशन यानी शिक्षा के विषय तहकीकात की कमेटी मुकर्रर किया था। परंतु प्राइमरी एडुकेशन कभी उत्तम नहीं हो सक्ती। जब तक नागरी अक्षर कचहरियों में जारी न किए जायेंगे, जब तक कचहरी की वही भाषा न होगी जो सब प्रजा की भाषा है, तब तक हमारे शिक्षाविभाग में लार्ड रीपन साहेब के प्राइमरी एडुकेशन का कुछ भी फल नहीं हो सक्ता। सम्पूर्ण बालकों के खेल समान नाममात्र को रहैगा।

महाशय!

तनिक ध्यान दीजिये कि पश्चिमोत्तर देश के सम्पूर्ण भागो [illegible] व्यय [illegible] से [illegible] वो [illegible]

पाठशाले नियत हैं। परन्तु जब हमारे भाग्यहीन बालक इन पाठशालाओं में वर्षों परिश्रम करने के पश्चात पढ़ लिख कर मिडिल क्लास के परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं अथवा गवर्नमेंट कालिजों में इंट्रेंस क्लास की परीक्षा में उत्तीर्ण हो कर जब जिला के अधिकारियों के पास अपनी नौकरी के लिये प्रार्थना करते हैं तो यही उत्तर मिलता है कि 'तुम्हारी जबाँदानी उर्दू फारसी में न थी, इसलिये तुमको नोकरी नहीं मिल सकती।" कहाँ तक अपना दुःख रोवैं। मेडिकेल कालेज के इम्तिहान में भी यही रीति हो गई है कि उर्दू जाने बिना परीक्षा देने के ट्लक भरती नहीं किये जायँ। शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर की यह आज्ञा है कि हमारे पाठशालाओं में केवल उर्दू ही अंगरेजी के सुलेखक विद्यार्थी पारितोपिक पावैं। हिंदीवाले कदापि नहीं। क्योंकि नागरी कोर्टलांगवेज नहीं हैं। इस देश में आपको कैसे आशा हो सक्ती है कि प्रथम श्रेणी के नागरी के सुलेखक क्षणमात्र में यूथ के यूथ मिल जायँ। तनिक आप इस भाषा की दशा पर तो ध्यान दीजिए कि इसके आदर सम्मान करने वाले तो परे रहैं पर मुख से पूछनेवाला कोई नहीं है। महाशय! यदि यही दशा रही तो मेरे बेचारे बालबच्चों का कैसे बेड़ा पार लगेगा। मैं तो किसी २ प्रकार अपना पालन पोषण भी कर लेती हूँ 'अर्थात कुछ समय अपने भाई बंगवासी के साथ व्यतीत करती हूँ, कभी अपने भ्राता विहारी शुक्ल के पास सूबे विहार में जा रहती हूँ, कभी कमाऊ,गढ़वाल की तराई में अपने

सहोदर भाई दुर्ग विजयनाथ के पास टिक जाती हूँ, कभी अपने योग्य प्यारे भाई नाना भाई हरीदास के साथ बम्बई में रहती हूँ और थोडे दिवस बीते कि मुझ तपस्विनी के लिये हुशगाबाद में भी मेरे पुत्रों ने कुटी बनाई है। निदान इसी प्रकार किसी २ भांति अपने भाई बधुओं में जा दिन बिताती हूँ। परंतु हाय ! मेरा कैसा वज्र सम हृदय है कि अपने बालकों की यह दुर्दशा देखकर जीती हूँ और सुखपूर्वक नींद लेती हूँ। महाराज ! यदि मेरी जीविका नियत हो जायगी तो मैं इन अनाथ बालकों को भली भांति जियाय लूँगी और मेरी जीविका नियत हो जाने पर पहले की अपेक्षा मुद्रा की भी अधिक आवश्यकता न पड़ेगी जैसा कि बहुधा महाशयों को सम्मति है कि नागरी के कोर्टलागवेज होने से बहुत मुद्राव्यय होगा और इसके कोर्टलागवेज होने की सुगमता मे बराबर बिहार के कलेक्टरों की रिपोर्ट साक्षी दे रही है। जो कुछ मेरी विनय थी सब सुना चुकी। अब केवल सर्कार की इच्छानुसार ठीक है। यदि कृपा हुई तब तो सब विधि मैं अच्छी ठहरी, नहीं तो ऐगुण की खानि— कहावत विदित है—

दो०—कितो कुरूपिनि कुटिल खल कुलटा बनत स्वकीय।
जा वहँ मानै पीय बड़, वही सती जग तीय॥"

(नागरी विलाप, बनारस लाइट यंत्रालय, सन् १८८५ ई० पृ० २८ ३२)

रामगरीब * चौबे नामक जिस विद्यार्थी ने प्रकृत 'विलाप' लिखा है उसकी प्रार्थना है—

"प्रिय 'नागरी-विलाप' के पाठको !

मैंने बहुधा तुम्हें इस दुखिया नागरी के विषय में विलाप करते और इसके गुणों को श्रीमान इंगलैंडीय शासन कर्त्ताओं को सुनाने की इच्छा करते सुना है, परन्तु मुझे दृढ़ विश्वास है कि आपने इस नागरी के वर्तमान समय के विलाप और दशा को सुना या देखा न होगा। अतएव इस छोटीसी पुस्तक द्वारा आप लोगों को उसकी दशा दरसाने का विचार कर मुद्रित कराया है। आशा है कि आप इस विलाप को सुन दया कर अधिक दुःख निवारण में कटिबद्ध होंगे। देखिएगा यह समझ छिप न रहिएगा कि हम दुःख निवारण में समर्थ नहीं तो विलाप भी न सुनें। जब विलाप सुनिएगा तो स्वयं आपको बल हो जायगा और यह विलाप केवल विलाप ही नहीं किन्तु आपको कुछ आनंददायक भी होगा। क्योंकि दुखी बुढ़िया

* दुःख है कि अभी तक हम इस गरीब विद्यार्थी के विषय में विशेषरूप से कुछ भी न जान सके। यहाँ हमें केवल इतना भर संकेत कर देना है कि नागरी का पक्ष राजनीति के पहलवानों ने नहीं बल्कि शिक्षा और ज्ञान के पुजारियों ने लिया। क्यों लिया, इसका उत्तर प्रत्यक्ष और स्पष्ट है। उसी के द्वारा ज्ञान का प्रसार और शिक्षा का प्रचार सुगमता से हो सकता है, कुछ ज्ञान की बैरिन उर्दू के द्वारा नहीं।

ने आपको और अपने को सुखी करने का उपाय भी किया है।" (वही, भूमिका)

राम गरीब विद्यार्थी का 'विलाप' व्यर्थ न गया। उसका 'उपाय' काम कर गया। 'दुखी बुढ़िया' के विलाप से पसीज कर एक भारत के सपूत ने वह कर दिखाया जो आज तक और किसी से न हो सका। वह वकील था। वकालत करना जानता था। कचहरी के विषभरे कोड़ों से भलीभाँति परिचित था। निदान उसने सच्ची लगन के साथ एक पुष्ट * पोथी तैयार की और बड़ी तत्परता से उसे सरकार में पेश किया। उस समय साक्षियों की कमी न थी। प्रमाण भी भरे पड़े थे। कमी थी तो केवल एक बात की। एक ऐसी बात थी जो अपने अधीन न थी। भाग्यवश वह कमी भी पूरी हो गई। उस समय एक 'दिलेर,' सत्यनिष्ठ और न्यायप्रिय शासक की जरूरत थी जो रात को रात तथा दिन को दिन आसानी से कह सके,

* खेद है कि महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी की इस रचना का कुछ भी प्रचार न हुआ और फलतः उनका यह काम भी उनके स्वभाववश अधूरा रह गया। यदि उनको 'कचहरी की लिपि और प्राइमरी शिक्षा' का उचित प्रचार हो जाता और उनकी नागरी-निष्ठा भी बनी रहती तो आज हिंदी की दुनिया कुछ और ही होती। उसे दर दर मारी फिरने की जरूरत न पड़ती और वह एक मात्र यहाँ की राष्ट्रलिपि तथा राष्ट्रभाषा के रूप में दिखाई पड़ती।

कूटनीति के साथ ही साथ राजनीति का पालन भी कर सके। सौभाग्य से ऐसा शासक भी युक्त-प्रांत में आ गया था। अवसर देख कर उसके सामने नागरी की गोहार लगी और उससे स्पष्ट कहा गया—

"कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने यह आज्ञा दी थी कि न्यायालयों की समस्त कार्रवाई उस स्थान की देशभाषा में हो और जब श्रीमान गवर्नर जेनरल ने यह कहा था कि माल और न्याय संबंधी सब कार्रवाई उसी भाषा में हो जिसे सर्वसाधारण समझ सकें तथा जब उन्होंने फ़ारसी के स्थान पर देशभाषा के प्रचार की आज्ञा दी थी तब उनका यही आशय था कि देशी भाषा का प्रचार देशी अक्षरों में हो, न कि विदेशी अक्षरों में। जब कभी हम किसी भाषा के विषय में कुछ कहते हैं तब उन अक्षरों का आशय जिनमें वह भाषा साधारणत लिखी जाती है हमारे कथन के अंतर्गत माना जाता है। गवर्नमेंट ने जब देशभाषा के प्रचार की आज्ञा दी थी तो उस आज्ञा का स्पष्ट उद्देश्य यही था कि कचहरियों का कार्रवाई ऐसी भाषा और ऐसे अक्षरों में हो कि जिसे सर्वसाधारण भलीभाँति समझ और पढ़ सकें और यह उद्देश्य तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक देश-भाषा का प्रचार विदेशी अक्षरों में रहेगा।

प्रारंभ में यह लिखा जा चुका है कि सन् १८३० और १८३७ के बीच में इस बात पर बड़ा विवाद चलता था कि फ़ारसी के स्थान पर किस भाषा का प्रचार हो। उस समय

कुछ लोगों की यह समति थी कि देशभाषा का प्रचार हो, परंतु रोमन अक्षरों मे। पर गवर्नमेंट ने इस समति को स्वीकार नहीं किया। इससे यह स्पष्ट प्रगट होता है कि गवर्नमेंट की यही इच्छा थी कि देशभाषा का प्रचार देशी अक्षरों में ही हो। पुनः सन् १८९३ ई० में यहाँ रोमन का झगड़ा उठा था और उस समय श्रीमान् लेफ्टिनेंट गवर्नर ने इसपर विचार करने के लिये एक छोटी सी कमेटी बनाई थी। पर उस कमेटी की संमति जो रोमन के क्रमशः प्रचार के पक्ष में थी गवर्नमेंट को स्वीकृत न हुई और श्रीमान् सर एंटोनी पाट्रिक मेकडानल ने यह सोच कर कि रोमन का प्रचार होने से सर्कारी अफसरों को देशभाषा सीखने की आवश्यकता कम हो जायगी जो किसी प्रकार से वांछनीय नहीं है, उस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। भारतवासियों से अपनी भाषा विदेशी अक्षरों में लिखने को कहना उतना ही समीचीन जान पडता है जितना कि अंग्रेजों से निज भाषा को नागरी अक्षरों में लिखने को कहना। एक शताब्दी तक उद्योग करने पर भी रोमन को सफलता प्राप्त न हुई और यह आशा कदापि नहीं की जा सकती कि प्राइमरी शिक्षा की उन्नति के साथ साथ कभी यह अवसर भी आएगा जब रोमन का किसी प्रांत में प्रचार हो।

पर यह समझ में नहीं आता कि जब गवर्नमेंट ने रोमन अक्षरों को अस्वीकार किया तो वह अब तक क्यों फारसी अक्षरों को यथास्थित छोडे हुई है। जो दोष रोमन अक्षरों पर

लगाए जाते हैं वही दोष फारसी अक्षरों पर भी लगाए जा सकते हैं। इस बात के कहने को कोई आवश्यकता नहीं कि ये अक्षर विदेशी हैं और यद्यपि मुसल्मानी राज्य के प्रारंभ से इनका प्रचार अदालतों में है पर अब तक शिक्षित मुसल्मानों और उन हिंदुओं को छोड़ कर जिन्हें अपनी जीविका के लिये उन्हें सीखना पड़ता है, और कोई भी इन्हें नहीं सीखता। जनसाधारण तो इन्हें नाममात्र को भी नहीं जानते। वे अपना सब काम नागरी, कैथी या महाजनी अक्षरों की सहायता से चलाते हैं। फारसी अक्षरों के प्रचार से यही फल उत्पन्न होता है कि वे लोग जिनका सर्वस्व अदालतों की कार्रवाइयों पर निर्भर रहता है, उसका एक अक्षर भी नहीं जान सकते, जब तक कि वे अत्यंत कष्ट उठा कर और बहुत कुछ व्यय करके उसे किसी मुहर्रिर या मुख्तार से न पढ़ाए। दर्खास्ते और अर्जीदावे आदि सब फारसी अक्षरों में लिखे जाते हैं परंतु वे लोग जो उनपर हस्ताक्षर करते हैं तथा जिनकी ओर से अर्जियाँ कचहरी मे दी जाती हैं, उनका एक अक्षर भी नहीं समझ सकते। गाँव के लोगों को इससे बहुधा अकथनीय कष्ट उठाना पड़ता है। गवर्नमेंट की सदा यह इच्छा रहती है कि प्रजा के लिये सुखकर नियम बनाए जायँ और वैसे ही प्रबंध हों। इसी इच्छा के अनुसार उसके सब कार्य होते हैं। परंतु यह समझ में नहीं आता कि ऐसी न्यायपरायण गवर्नमेंट कथित बातों को जान कर भी प्रजा के कष्ट को क्यों नहीं दूर

करती ? नागरी अक्षरों के प्रचार से सब कष्ट दूर हो जायँगे, इस बात को गवर्नमेंट भी स्वीकार करती है, क्योंकि अवध मे बेदखली आदि की नोटिसे हिंदी और उर्दू दोनों में निकलती हैं। बोर्ड आफ रेवेन्यू ने भी गत वर्ष यह आज्ञा दे दी है कि समन आदि हिंदी और उर्दू दोनों में लिखे जाया करें। बस इन कागजों को छोड कर पश्चिमोत्तर प्रदेश में (गढवाल और कमाऊँ जिलों के व्यतिरिक्त) कहीं भी हिंदी का प्रचार नहीं है।

फारसी अक्षरों के विषय में केवल यही नहीं कहा जा सकता कि वे विदेशी हैं तथा भारतवासी उन्हें नहीं जानते, वरच ये अक्षर नितांत अपूर्ण और अत्यंत भ्रामक हैं। साधारणत: जिस प्रकार से ये अक्षर लिखे जाते हैं और विशेष कर अदालतों में जिस प्रकार की लिखावट होती है उससे बडा अनिष्ट होता है। इन अक्षरों में बडा भारी दोष तो यह है कि एक बार जो लिखा गया उसका ठीक वैसा ही पढा जाना कठिन ही नहीं, कभी कभी तो असभव हो जाता है। इन कारणों से अदालतो मे इनका प्रचार सर्वथा असमीचीन है। शिकस्त फारसी से जो अनिष्ट होता है वह छिपा नहीं है। अनेक बार उसपर लिखा पढी हो चुकी है। प्रोफेसर मोनियर विलियम्स ने ३० दिसम्बर सन् १८५८ ई० के टाइम्स नाम के पत्र में फारसी अक्षरों के दोष पूर्ण रूप से दिखाए हैं। उनका कथन है कि "इन अक्षरों को सुगमता से पढने के लिये वर्षों का अभ्यास आवश्यक है।" वे

कहते हैं कि इन अक्षरों में चार 'ज' होते हैं तथा प्रत्येक अक्षर के उसके प्रारंभिक,मध्यस्थ वा अंतिम रूप भिन्न होने के कारण चार भिन्न भिन्न रूप होते हैं। अंत में प्रोफेसर साहब कहते हैं कि—

"चाहे ये अक्षर देखने मे कितने ही सुंदर क्यों न हों, पर न कभी पढ़े जाने योग्य हैं, न छपने योग्य हैं और पूर्व में विद्या और सभ्यता की उन्नति में सहायक होने के तो सर्वथा अयोग्य हैं।" (नागरी प्र० पत्रिका सन् १८९८ ई०, पृ० १३३ से ३६ तक)

प्रत्यक्ष ही है कि इन्हीं विद्या विरोधी अयोग्य अक्षरों का परिणाम है कि—

"केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध और पंजाब इन्हीं दो प्रांतों में देशी स्कूलों द्वारा शिक्षा फैलाने में सफलता नहीं प्राप्त हुई हैं और ये ही वे प्रांत है जहाँ देशवासियों की भाषा और लिपि का अनादर कर उर्दू भाषा और फारसी अक्षरों का कचहरियों और दफ्तरों में प्रचार है। देशी स्कूलों को उत्साह पूर्वक बढ़ाने की संमति तो निस्सदेह उत्तम थी परंतु जो अभी कहा गया है उससे स्पष्ट है कि देशी स्कूलों की उन्नति सन् १८७१ ई० के बीच में जो नहीं हुई उसका कारण यह नहीं है कि मिस्टर टाम्सन की नीति के प्रतिकूल कार्य हुआ और उसका त्याग किया गया, वरंच जिस कारण से उस नीति के अनुसार कार्य करने में सफलता प्राप्त करनी ही असंभव थी वह उर्दू का

आदर और देशभाषा हिंदी का तिरस्कार था।"

तो अब यह स्पष्ट है कि साधारण प्रजा में विद्या का प्रचार हिंदी के कचहरियों में प्रचलित होने के साथ ही साथ होगा। अतएव यह आशा की गई थी कि एजूकेशन कमीशन जिसका मुख्य उद्देश्य प्रायमरी शिक्षा की अवस्था जानना और उसके उन्नति के उपाय बताना था, यह समति देगी कि कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में उर्दू के स्थान पर हिंदी का प्रचार किया जाय। पर दुर्भाग्यवश उमने कुछ भी इस विषय पर न लिखा। पंजाब में प्रायमरी शिक्षा पर विचार करके उसने लिखा कि—

"उर्दू अभी तक सरकारी कचहरियों की भाषा है और जब तक यह रहेगी प्रायमरी स्कूलों में उसकी वृद्धि अवश्य होगी। बहुत से लोग ऐसे हैं जो उर्दू के बदले हिंदी का प्रचार होना चाहेंगे, परंतु इस बात के स्थिर करने में उसका उतना ही संबंध राज्यप्रबध से है जितना शिक्षा विषय से। अतएव यह एक ऐसी बात है जिस पर कमीशन अपनी संमति नहीं दे सकती।" (वही पृ० १६०-१)

क्यों नहीं दे सकती, इसका कारण प्रत्यक्ष है पर वह इसका असली भेद नहीं। इसका रहस्य तो यह है कि—

"सर सैयद ने एक बाक़ायदह तरीक़ह से कमीशन पर यह ज़ाहिर कर दिया था कि यह मसलह एजूकेशन कमीशन से कुछ एलाक़ह नहीं रखता, वल्कि एक बहुत बड़ा पोलिटिकल मस-

लह है, जिसके साथ गवर्नमेंट के ममालह मुल्की वावस्तह है। पस इसकी बहस एजूकेशन कमीशन से कुछ एलाकह नहीं रखती।" (हयात जावेद, वही, प्रथम भाग पृ० १४२)

उधर—

'सैयद* महमूद ने अपनी मेंबरी के जमाने मे १८ रिज़ोल्यूशन कमीशन म ऐसे पास कराए थे जो खास मुसलमानो की तरक्की तालीम और बेहबूदी से एलाकह रखते थे।' (वही पृ० २४५ फुटनोट)

पिता पुत्र का प्रभाव जो 'एजूकेशन कमीशन' पर पडा था उसी का यह जीता जागता नतीजा है कि शिक्षा का सच्चा प्रश्न राजनीति का छल छद समझा गया और उस लिपि का प्रकारांतर से पोषण किया गया जिसे डाक्टर फ़िल्लॉट जैसा मनीषी विद्या प्रचार का शत्रु समझता है और इस बात का सकेत भी करता है कि आजकल की प्रचलित अरबी लिपि अरब की

---

* सैयद महमूद सर सैयद अहमदखाँ के पुत्र थे और उनकी जगह 'कमीशन' में दाखिल हुए थे। सैयद रास मसूद, जिनकी देख रेख में हैदराबाद में उर्दू का सितारा चमका और उस्मानिया यूनिवर्सिटी को जन्म मिला, इन्हीं सैयद महमूद के पुत्र थे। इस प्रकार हम देखते है कि इन पिता पुत्र और पौत्र ने मिलकर उर्दू को धीरे धीरे उस पद पर बिठा दिया जिसके लिये आज भी हिंदी अपने देश में ही तरस रही है और किसी कुब्जा की अगवानी में लीन है।

सनातन लिपि नहीं है। अरबों ने एक बार लिपि में परिवर्तन भी किया है। अतएव उसमें परिवर्तन कर लेना कोई अजीब बात नहीं।

खैर, "अब जरा बिहार और मध्य प्रदेश पर ध्यान दीजिए। अब सन् १८३९ ई० में गवर्नमेंट ने यह आज्ञा दी कि फारसी के स्थान पर देशभाषा का प्रचार कचहरियों और सर्कारी दफ्तरों में हो तो यह समझ कर कि उर्दू इस प्रांत की भाषा है वह प्रचलित की गई, परंतु वास्तव में यहाँ की भाषा हिंदी थी और अब भी है, जो नागरी वा कैथी अक्षरों में लिखी जाती है। जब बंगाल के लेफ्टनेन्ट गवर्नर सर जार्ज केम्बल हुए तो उन्होंने अपने शासन-काल का मुख्य कर्तव्य जनसाधारण में विद्या फैलाना माना और इसी उद्देश्य से सन् १८७२ ई० में चार लाख रुपये का व्यय स्वीकार किया। पर उनको यह सूझ पड़ा कि जब तक इस देश की भाषा और लिपि का प्रचार कचहरियों और दफ्तरों में न होगा तब तक विद्या का यथेच्छ रूप में फैलना संभव नहीं है। अतएव उन्होंने आज्ञा दी कि केवल अर्जियों को छोड़ कर जो हिंदी और उर्दू दोनों में देने वाले की इच्छानुसार हो सकती हैं और सब समन, नोटिस आदि हिंदी में लिखे जायँ परंतु अमलों की दया से कई वर्ष तक इस आज्ञा का पालन न हुआ। अंत में सर एंगली ईडन के समय में इस बात पर गवर्नमेंट का ध्यान पुनः दिलाया गया और पहिली जनवरी सन् १८८१ ई० से पटना और भागलपुर कमिश्नरी में केवल हिंदी

का ही प्रचार है। इस न्यायशील और आवश्यक सुधार का फल अत्यंत संतोषजनक हुआ है, क्योंकि ३१ मार्च सन् १८७२ ई० में बिहार के प्रायमरी स्कूलों में केवल ३३४३० बालक थे और सन् १८९५-९६ के अंत में २६०४७१ अर्थात अठगुने हो गए।

मध्यप्रदेश के उन स्थानों में जहाँ हिंदी बोली जाती है सन् १८७२ ई० तक फारसी का प्रचार था। सन् १८७२ ई० में इंडिया गवर्नमेंट ने यह आज्ञा दी कि नागरी अक्षरों का प्रचार हो, परंतु अमलों की अपार दया से सन् १८८१ तक इस आज्ञा का प्रत्यक्ष फल न देख पड़ा। इस वर्ष में जुडिशल कमिश्नर ने चीफ कमिश्नर के आदेशानुसार यह आज्ञा दी कि अर्जीदावे हिंदी में लिये जाया करें, तथा डिग्री, हुक्म, फैसले आदि हिंदी में निकलें और कोई मनुष्य जो हिंदी शीघ्रता और शुद्धता से पढ़ लिख न सकता हो नौकर न रक्खा जावे। इस आज्ञा का पालन अब पूर्ण रूप से हो रहा है और शिक्षा पर इस परिवर्तन का प्रभाव बहुत अच्छा पड़ा है। अर्थात सन् १८८१ ई० में प्रायमरी स्कूलों में ७४५२९ विद्यार्थी थे और १८९५-९६ के अंत मे ११७८९६, अर्थात् ४३३६७ अधिक हो गये। पर पंजाब मे जहाँ मध्य प्रदेश से जनसंख्या दूनी है और जहाँ विश्वविद्यालय और आर्यसमाज प्रायमरी शिक्षा के लिये पूर्ण उद्योग कर रहे हैं गत १५ वर्ष में केवल १६००० विद्यार्थी बढ़े और पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में ४९००० घट गए। इसका कारण और

क्या हो सकता है—केवल यही है कि इन दोनों प्रांतों की कचहरियों और सर्कारी दफ्तरों में देशभाषा के और देशी अक्षरों के बदले फारसी अक्षरों और उर्दू भाषा का प्रचार है।" (ना० प्र० पत्रिका, वही पृ० १५१ से १५७ तक)

नाना प्रकार के पुष्ट प्रमाणों को पेश कर अंत में प्रार्थना यह की गई कि—

"न्याय और शिक्षा के हित के लिये यह अत्यत आवश्यक है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध की अदालतों और सर्कारी दफ्तरों में फारसी के स्थान पर नागरी अक्षरों का प्रचार किया जाय। इसके करने में किसी को कष्ट न होगा, क्योंकि इस प्रांत में प्रत्येक असिस्टेंट मजिस्ट्रेट और कलेक्टर, असिस्टेंट कमिश्नर, डिप्टी कलेक्टर, इरीगेशन और फारेस्ट आफिसर और तहसीलदार तथा अवध में प्रत्येक मुंसिफ को नागरी अक्षरों में लिखी हुई हिंदी में परीक्षा देनी पड़ती है। इसलिये इन लोगों को इस परिवर्तन से कोई कष्ट न होगा। हाँ, अमला लोगों को अवश्य नागरी सीखनी पड़ेगी। यदि यह मान भी लिया जाय कि जितने सर्कारी नौकर हैं सबको नागरी अक्षर सीखने पड़ेंगे तो भी यह कोई ऐसी बात नहीं है, जिसके लिये न्याय का पथ छोड़ा जाय, विद्या का प्रचार रोका जाय और एक अत्यंत आवश्यक सुधार करने में विलंब किया जाय।" (वही पृ० १६८-९)

इधर तो महामना पंडित मदनमोहन मालवीय इस प्रयत्न

मे लगे थे कि कुछ ऐसा उपाय किया जाय कि निरीह जनता में विद्या का प्रचार हो और काम-काज में सब तरह का सुभीता हो, किसी के लिये जाल या मायावी लिखा पढ़ी का खतरा न रहे, बल्कि सब लोग उस साधु लिपि का व्यवहार करने लग जायँ जो बकौल मिर्जा इरफान अली बेग 'सात ही दिन में आ जाती है' और जिसकी समता सचाई में दुनिया की कोई दूसरी लिपि नहीं कर सकती, और उधर सर सैयद अहमद खाँ विस्तर पर पडे पड़े कुछ और ही कांड रच रहे थे। मौलाना हाली के कथनानुसार—

"उनको यकीन हो गया था कि हिंदुओं का यह काम दर हकीकत महज़ कौमी तास्सुब पर मबनी है।......उन्होंने उर्दू जबान की मुखालफत पर कभी सकूत एख्तयार नहीं किया। यहाँ तक कि मरते मरते भी वह इस ड्यूटी का अदा किए बग़ैर नही रहे। वह अपने आर्टकिल के शुरुअ में लिखते हैं कि—

"गालिबन् इस वक्त उनके (याने हिंदुओं के) इस जोश के उठने का सबब यह है कि इस सूबः के हिज़ आनर लेफ्टेंट गवर्नर बहादुर उस जमानः मे, जब कि सूब. बिहार में कैथी हर्फ और बिहारी जबान बएवज उर्दू ज़बान और फारसी खत के जारी हुई थी, कलक्टर व मैजिस्ट्रेट और मुआवन उस तजवीज़ के थे। पस इन सूबों में भी हिंदी व नागरी हुरूफ जारी होने में तामिल न फरमायेंगे और शायद यह गलत ख्याल भी उस पुराने मुर्दह मजमून को उठाने का बाअस हुआ

हो कि इन दिनों में गवर्नमेंट की नज़र इनायत मुसलमानों की निस्बत कम है और वह उनको नाशुकरा समझती है।" इसके बाद उन्होंने मेमोरियल के खिलाफ़ उर्दू ज़बान और फारसी खत की तरजीह पर दलीलें पेश की हैं।" (हयात जावेद, वही, पृ० १४२)

हिंदुओं के कौमी तास्सुब को साफ़ दिखाने के लिये मौलाना हाली ने उस प्रसिद्ध फरासीसी पंडित गार्साद तासी का प्रमाण दिया है जो धार्मिक द्वेष का पुतला था और हिंदी-उर्दू-विवाद छिड़ जाने से सर सैयद का पक्का चेला बन गया था। उसका कहना है—

"हिंदू अपने तास्सुब की वजह से हर एक ऐसे अम्र के मज़ाहिम होते हैं जो उनको मुसलमानों की हुकूमत का ज़मानः याद दिलाए"। पर साथ ही आपका फरमाना यह भी है कि—

'मुझे उर्दू ज़बान और मुसलमानों के साथ जो लगाव है वह कोई छिपी हुई बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग बावजूद कुरआन को किताब इलाही मानने के इंजील मुकद्दस की इलहामी तालीम से इंकार नहीं करते, हालाँ कि हिंदू लोग बुतपरस्त होने के बाअस इंजील की तालीम को कभी तसलीम नहीं कर सकते।" (उर्दू, अपरैल सन १९७० ई० पृ० २८०, १८७० ई० का व्याख्यान)

कदाचित् यही कारण है कि—

"उस वक्त का सारा रुजहान मुसलमानों और अँगरेजों के

दर्मियान इत्तहाद पैदा करना था। यही बात है जिसकी तरफ़ सर सैयद अरस-ए-दराज़ से मुसलमानों को लाना चाहते थे। जिन्दगी भर वह मुसल्मानों को खुदा का यह कौल याद दिलाते रहे कि वह अह्ल किताब को अपने बेहतरीन दोस्त पायेंगे। (रोशन मुस्तक़बल, वही, पृ० २९० पर अवतरित)

फिर भी गार्सां-द तासी इतना स्वीकार करते हैं कि—

"अलावह इसके अभी तक हिंदुस्तान के मुसलमानों में अक़्लपरस्ती ने घर नहीं किया है। वह अब भी अपने मज़हब में वैसे ही पुर जोश हैं और अगरचः हिन्दू मज़हब का रंग उनमें आ गया है तो भी वह रोज़ानह हिंदुओं को मुसलमान बनाते रहते हैं।" (खुतबात गार्सां-द-तासी, वही, पृष्ठ १२२)

ख़ैर, 'मज़हबी जोश' और 'हिंदू-द्वेष' की बातें यहीं छोड़ अब थोड़ा यह देखिए कि क्या सचमुच हिंदू 'मुसलमानों की निशानी' मिटाना चाहते थे ? निवेदन है हरगिज़ नहीं। नागरी लिपि का प्रचार केवल 'सत्य' और 'न्याय' की दृष्टि से ही किया जा रहा था। यकीन न हो तो 'नागरी' के परम प्रचारक पंडित गौरीदत्त मेरठी का 'सर्राफी नाटक' देख लीजिए। उसमें साफ़ साफ़ अर्ज किया गया है कि—

"इसलिये मैं अपना फर्ज जानकर अपनी न्यायकारी अंग्रेज़ी गवर्नमेंट पर यह सच्चा हाल प्रकाश किए देता हूँ और उम्मैद रखता हूँ कि हमारी रहीम गवर्नमेंट इस देश के व्यापा-

रियों पर रहम खाकर सर्राफी हरफ छुडा कर इनके बही खाते नागरी हरफों में करा देगी। नागरी मे जैसा लिखा जाता है ठीक ठीक वैसा ही पढ़ा जाता है। दगा फरेब नहीं होता। जाल नहीं बन सक्ता।" (सर्राफी नाटक, गोरखपुर प्रेस, सन् १८९० ई०, पृ० १८)

रही सबध की बात। सो आज भी ठेठ मुसलमानो की भाषा हिंदी है और आज भी उनमें नागरी का प्रचार है। हाँ, मजहब के नाम पर बहुत दिनों से उन्हें गुमराह अवश्य किया जा रहा है और हर तरह से उन्हें अहिंदी होने पर मजबूर किया जा रहा है। हिंदी भी उसी तरह उनकी मातृभाषा है जिस तरह गुजरात और बगाल के मुसलमानों की गुजराती और बगला। यदि गुजरात और बगाल में भी फारसी की जगह उसी तरह उर्दू चालू कर दी जाती जिस तरह ठेठ हिंदुस्तान में 'हिंदुस्तानी' की आड मे कर दी गई, तो वहाँ भी आज भाषा का एक अजीब अखाडा होता। पर परमात्मा की असीम कृपा अथवा उनके सपूतों की सावधानी से वहाँ कुछ ऐसा विधान न बन सका और फलत वहाँ की भाषा तथा वहाँ की लिपि मे विद्या का प्रचार भी सहसा हो गया। परतु हवा का रुख बदला नहीं, क्योंकि वहाँ भी उस लिपि का प्रचार किया जाने लगा जो देखने में तो अच्छी पर छापे और ज्ञान के लिये ठीक निहिनी है। देखते ही घट उन्हें हजम कर जाती है और फिर कभी उनका पता तक नहीं चलने देती और

सदासुहागिन बिनबूझ पहेली बनी रह जाती है। खुदा रहम कर अपने बंदों को नजात दे और उन्हें उस खत का पाबंद बनाए जिसमें कोई खास खता न हो; बल्कि जो आमफहम और मुल्की ईजाद हो। इत्तहाद और सचाई को अपना धर्म समझता हो। व्यापक और उदार हो। उर्दू" की भाँति जिसके सभी वर्ण* बिलग न हों बल्कि हिंदी की भाँति एक में घुलेमिले संनद्ध हों। एकता के भाव तथा अर्थ को समझते हों। कामरूप न हों, पर ऐक्य के लिये कुछ परिवर्तनप्रिय अवश्य हों।

अच्छा तो हुआ यह कि सर सैयद अहमद खाँ के निधन के उपरांत महामना मालवीय जी की बातों की कुछ सुनवाई हो गई और प्रांतीय सरकार ने कचहरियों में नागरी को भी स्थान दे दिया। भाषा के विषय में ध्यान देने की बात यह है कि अपनी प्रार्थना में न तो मालवीय जी ने उसके लिये आग्रह ही किया था और न सरकार ने उसपर ध्यान ही दिया था। सच पूछिए तो इसकी

* 'उर्दू' की व्यापकता और साधुता को सिद्ध करने के लिये तरह तरह के तर्क उपस्थित किए जा रहे हैं। उन्हीं तर्कों में से एक तर्क डाक्टर अब्दुलहक का यह भी है कि 'उर्दू की आम मक़बूलियत' का एक सबब यह भी है कि उसके सभी वर्ण अलग अलग होते हैं। जिससे उसके लिखने पढ़ने में सुभीता होती है। पर 'हिंदी' में यह बात नहीं है। न हो। पर उसी तर्क के आधार पर उसमें एकता तो है? 'मैं' कहीं और 'तू' कहीं और की बात तो नहीं है?

आवश्यकता भी न थी। सरकार ने सन् १८३७ ई० के विधान में स्पष्ट कर दिया था कि वह सचमुच देशभाषा का प्रचार चाहती है और बराबर बार बार यह घोषणा करती रही है कि सरकारी कामकाज की भाषा सच्ची देशभाषा हो। पर किया क्या जाय? देश मे देश, दीन और बुद्धि के दुश्मन भी तो कम नहीं हैं जो पेट और इम्तयाज के आगे और किसी बात की चिंता ही नहीं करते और सरकार को भोलीभाली जनता की ओट में बराबर धता बताते रहते हैं। आखिर कचहरी की इस विषैली जाली भाषा का रहस्य क्या? क्यों वह एक अजनबी भाषा के रूप में चली जा रही है और स्वर्गीय सर सैयद अहमद खाँ जैसे 'नेचरी' पेशवा और आजकल के मजहबी खलीफा मौलाना हसन निजामी की जबान तक से मेल नहीं खाती? क्या उक्त सज्जनों की जबान गवाँरी, बनावटी या भोंडी या कुछ और है, जो उसका प्रचार कचहरियों मे नहीं होने दिया जाता और उनमें एक मनमानी, पिशाचिनी भाषा का व्यवहार किया जाता है जो न तो फारसी है न अरबी, न तो मुसलमानी

सरकार की वह सीधी सादी विज्ञप्ति थी—

(1) All persons may present their petitions or complaints either in the Nagari or in the Persian Character, as they shall desire

(2) All summonses, proclamations, and the like in Vernacular, issuing to the public from the Courts or from Revenue officials, shall be in the Persian and the Nagari Characters, and the portions in the latter shall invariably be filled up as well as that in the former.

(3) No person shall be appointed except in a purely English office, to any ministerial appointment henceforward, unless he can read and write both the Nagari and the Persian Characters fluently (No 585 III. 343 c. 68, dated 18 th April 1900)

इस विज्ञप्ति मे कहीं कोई भी बात ऐसी नहीं है जो अजीब और अनोखी हो, बल्कि हकीकत और सत्य तो यह है कि यह वही पुरानी बात है जो मुसलिम शासन मे तो बराबर थी ही, कंपनी सरकार के आरंभ में भी बराबर बनी थी। हाँ, प्रमाद और नीतिवश बाद में कुछ काल के लिये निकाल अवश्य दी गई थी। फिर भी इसके लिये दिल तोड कर

प्रयत्न किया गया और अंत में सर एंटोनी मैक्डालन की दिलेरी, निष्ठा और तत्परता से परास्त हो कर वह ऊधम मचाया गया जो आज भी चारों ओर प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है और फसादी यारों का एक अमोघ अस्त्र हो गया है। माना कि नागरी की कचहरी में प्रतिष्ठा हो जाने से कुछ लोगों का पेट पतला पड़ गया और कुछ लोगों की शाही शान भी मारी गई, पर इससे यह कहाँ सिद्ध हो गया कि 'मुसलमानों की निशानी' भी जाती रही। क्या पारसी लिपि मुसलमानों की निशानी नहीं है? क्या पारसी के साथ ही साथ हिंदी या नागरी लिपि भी मुसलमानी शासकों की निशानी नहीं रही है? क्या मुसलिम शासकों और मुसलिम कवियों ने नागरी का स्वागत नहीं किया है? यदि हाँ, तो यह व्यामोह कैसा? यह खुराफात और उपद्रव कैसा? यदि नहीं, तो इसका प्रमाण क्या? इसकी नजीर या सनद कहाँ? अरे दिमाग पर से गुलामी की मुहर निकाल फेंको; अपनी कोरी बदगुमानी की दवा करो, कुछ हक का लिहाज सीखो फिर देखो कि मामला क्या है। क्यों इस तरह किसी के भुलावे में रातदिन पड़े हो और अपने हाथों प्रमादवश अपनी जड़ खोद रहे हो। उठो, सजग हो, चेतो और देखो कि तुम्हारा परंपरागत इतिहास क्या है। क्यों तुम्हारी राष्ट्रभाषा 'गूजरी'*, 'हिंदी' या 'नागरी' ही

---

* बहुत से प्राचीन मुसलिम कवियों ने अपनी प्यारी जबान को 'गूजरी' कहा है और अर्वाचीन समीक्षकों ने उसे

है और राष्ट्रलिपि भी नागरी ही। जब खुद फारसी न रहे तो यह फारसी का मोह कैसा? जब हिंदी या हिंदुस्तानी होगए तब हिंदी या हिंदुस्तानी से प्रेम करो। उसे अपनाओ। गैर की समझ कर व्यामोहवश उसे ठुकराओ नहीं। सचमुच वह तुम्हारी है और तुम उनके हो। जरा आँख से विलायती चश्मे को दूर करो, फिर देखो कि तुम्हारा उससे कितना घना संबंध है और किस तरह तुम्हारे पूर्वजों ने अपने खून से उसे सींचा हैं। देखो न, मलिक मुहम्मद जायसी, जो मौलाना 'रूमी' से किसी कदर कम नहीं, क्या फरमाते हैं और हिंदी के भांडार के लिये कितना श्रम करते हैं—

"जोरी लाइ रकत कै लेई गाढ़ी प्रीति नयनन्ह जल भेई।"

अब तो शायद समझ में आ गया हो कि तुम द्वेषवश शौक से आत्महत्या कर रहे हो और कुछ विलायती बावलों के बहकाने में आ कर अपने हाथों अपना विनाश कर रहे हो। याद रहे, हर हालत में जूझने हिंदी या हिंदुस्तानी ही हैं, विलायती या धर्मध्वज अहिंदी पेशवा नहीं। वे तो वकील अकबर—

गुजराती का वाचक माना है। पर सच पूछिए तो यह 'गूजरी' और कुछ नहीं बल्कि 'नागरी' का ही एक चलित रूप है। 'गुर्जर' और 'नागर' याने यजमान और पुरोहित के नाम से 'गूजरी' और 'नागरी' की ख्याति हुई है। 'गूजरी' को 'नागरी' से अलग कर उसे 'उर्दू' के नाम से प्रसिद्ध करना पाखंड और शुद्ध अज्ञान है। ज्ञान या सत्यनिष्ठा कदापि नहीं।

"यहाँ जीने को आए हैं. यहाँ मरने नहीं आए।"

ख़ैर, गनीमत अब इतनी ही है कि जिसे ये अपना देश समझते हैं वहाँ अब उनकी कोई पूछ नहीं। हाँ, उसके स्नेह में पकौड़ी की तरह फूल कर कुछ देर नाच भले ही ले; पर अंत में तो जल कर भस्म हो जाना ही होगा।

सर सैयद अहमद खाँ के भाग्य में यह दिन देखना बदा ही न था; पर उनके दाहिने हाथ नवाब सैयद मेहदी अली खाँ बहादुर ने उर्दू का यह दिन भी देख लिया और एक लखनऊ की उर्दू की हिमायती मजलिस में कहा—

"गो हमारे हाथ में क़लम नहीं और हमारे क़लम में ज़ोर नहीं और इसी वजह से हम दफ्तरों में कम नज़र आते हैं, मगर हमारे हाथ में तलवार पकड़ने की कूवत अभी बाकी है (चीयर्ज़) और हमारे दिलों में मलिकः मुअज्जमः की मुहब्बत है (चीयर्ज़) और उनकी गवर्नमेंट की बरक्तों पर हमको यक़ीन है कि इस गवर्नमेंट की बदौलत हम अपनी सल्तनत के जाने के बाद अपना वजूद हिंदुस्तान में देखते हैं और इस आज़ादी और अमन व आमान से ज़िन्दगी बसर करते हैं। पस, गो कलम से कुछ नहीं कर सकने, मगर ख़ुदा न ख्वास्तः जब मग़रिब से हम किसी को ऐसी गवर्नमेंट के मुकाबिल में आते देखेंगे तो उसी तरह मलिकः मुअज्जमः के ताज और सल्तनत पर अपना ख़ून बहाएँगे जैसा अपने हममज़हब बादशाहों की बादशाही कायम रखने के लिये बहाते थे। (निहायत

जोश के साथ चीयर्ज़) हम अपनी क़ूवत को गवर्नमेंट के दुश्मनों पर काम में लावेंगे। हम कभी लेहज़: के लिये भी ख़याल नहीं कर सकते कि गवर्नमेंट हमको भुला दे और छोड़ दे और हमारी उन चीज़ों को जिनपर हमारी ज़िन्दगी है सदमः पहुँचने दे। मुझे हरगिज़ यक़ीन नहीं है कि गवर्नमेंट हमारी ज़बान को मरने देगी, बल्कि उसको ज़िन्दह रखेगी और वह कभी मरने न पाएगी। मगर इसमें कुछ शुबहः नहीं कि जो कोशिश उसके मारने की दूसरी तरफ़ से हो रही है अगर वह बराबर जारी रही तो आइन्दह किसी वक़्त हमारी ज़बान को सदमः पहुँचेगा। यही ख़ौफ़ है जिसके लिये यह कोशिशें हो रही हैं, ताकि हम अपनी ज़बान को ज़िंदह रख सकें और अगर ख़ुदा न ख़्वास्तः वह वक़्त आने कि इसको ज़िंदह न रख सकें तो इसका जनाज़ह तो धूम से निकालें

"आशिक का जनाज़ह है ज़रा धूम से निकले।" (तज़किरह महसन वही, पृ० १००-१)

१८ अगस्त १९०० ई० के इस व्याख्यान में ध्यान देने की बात यह है कि अभी उर्दू 'हमारी' याने कल के फ़ातेह या हाकिम मुसलमानों की ज़बान है और इसी नाते उनके लिये उसकी रक्षा का प्रश्न है। 'हमारी' से उर्दू 'मुल्की' या 'मुश्तरक:' ज़बान कैसे हो गई, इस पर आज तक गौर ही नहीं किया गया। यदि कभी इसकी छानबीन कर ली गई होती तो आज भाषा का दंगल सामने ही क्यों आता! ख़ैर अभी इस 'हमारी ज़बान' की 'फ़रियाद' सुन लीजिए और सदा के लिये नोट कर

लीजिए कि वह स्वतः अपने आपको क्या बताती है। किस बात का उसे पक्का नाज है। उसकी 'फ़रियाद' है —

खुदाया पड़ी कैसी उफ्ताद है,
बड़े लाट साहब से फ़रियाद है।
मुझे अब किसी का सहारा नहीं,
यह बेवक्त मरना गवारा नहीं।
मेरा हाल बहरे खुदा देखिए,
जरा मेरा नख्शोनुमा देखिए।
मैं शाहों की गोदों की पाली हुई,
मेरी हाय यों पायमाली हुई।
निकाले ज़बाँ फिरती हूँ बावली,
खुदाया मैं दिल्ली की थी लाडली।
अदाएँ बला की सितम का जमाल,
वह सजधज क़यामत वह आफ़त की चाल।
मेरे इश्क का लोग भरते थे दम,
नहीं झूठ कहती खुदा की क़सम।
यह आफ़त लड़कपन में आने को थी,
जवानी अभी सिर उठाने को थी।
निकाले थे*कुछ कुछ अभी हाथ पाँव,
"चमक फैलती जाती है गाँव गाँव;

* साफ है कि अभी तक उर्दू लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठित न हो सकी थी और न अभी उसका यह दावा ही था।

कि गैबी तमाचे से मुँह फिर गया,
मद्दे चारदह अब्र में घिर गया।
मेरी गुफ़्तगू और हिंदी के हर्फ़,
वह शोलाफ़िसानी यह दरयाय बर्फ़।
इस अंदाज़ पै दिल हुआ लोट पोट,
दुलाई मे अतलस की गाढ़े की गोट।
खुदाया न क्यों मुझको मौत आ गई,
कहाँ से मेरे सर यह सौत आ गई।
न झूमर न छपका न बाले रहे,
न गेसू मेरे काले काले रहे,
न अतलस का पाजामा कलियों भरा,
दुपट्टा गुलाबी मेरा क्या हुआ ?
न सुरमा न मिस्सी न मेंहदी का रंग,
अजब तेरी कुदरत अजब तेरे ढंग।
न बेले का बद्धी न अब हार है,
न जुगनू गले में तरहदार है।

फिर भला आज हम यह कैसे मान सकते हैं कि वही हमारी 'मादरी' या मुल्की जवान हैं और हिंदी कुछ नहीं, सिर्फ एक बनावटी, मरी या 'राक्षसों और जिन्नात की जबान।' हम तो आज भी उसे उसी तरह मुल्की या मादरी जबान समझ रहे हैं जिस तरह कल तक सच्चे मुसलमान भी समझते थे ।

न भाभों की झनझन कड़ों का न शोर,
दुपट्टे की सरसरन न महरम का ज़ोर।
वह बाँकी अदाएँ वह तिरछी चलन,
फिफरूँ हुआ हो गया सब हरन।
बस अब क्या रहा, क्या रहा, क्या रहा,
फकत एक दम आता जाता रहा।
यह सौदा बहुत हमको महँगा दिया,
कि खिलअत मे हाकिम ने लहँगा दिया।
अँगोछे की अब तुम फबन देखना,
खुली धोतियों का चलन देखना।
वह सेंदूर * बालों में कैसी जुटी,
किसी पार्क में या कि सुर्खी कुटी॥"

(१७ मई सन् १९०० ई०, 'अवध पंच' से कविता कौमुदी, द्वितीय भाग मे श्री बालमुकुंद गुप्त के उत्तर के साथ अवतरित)

अब तो शायद यह याद दिलाने की जरूरत नहीं रही कि

---

* देखा आपने ? बी उदूँ को यह सुहाग कैसा दिखाई दे रहा है ? 'अँगोछे' और 'धोती' से उन्हे ऐसी नफरत क्यों है ? क्या देश के किसानों से उन्हे कुछ भी प्रेम है ? हैं उनके साथ सती होने के लिये तैयार ? अथवा अपना पाजामा ही दुरुस्त कर रही हैं और अपनी 'तिरछी चलन' को ही सब कुछ समझ रही हैं ? सच है, सुहागिन को 'सौत' कहना 'बी उदूँ' का ही काम है।

जिसे आज हमारे देश के सर तेज बहादुर सप्रू जैसे मुल्कपरस्त वकील 'मुल्की' और 'मुश्तरकः' ज़बान होने की सनद देते हैं वह खुद अपने आपको सन् १९०० ई० तक ऐसा कुछ भी नहीं समझती थी, और उसके सरपरस्त इन्तयाजी भी उसे सिर्फ 'हमारी ज़बान' कहा करते थे। किंतु कचहरियों में नागरी के आ जाने का परिणाम यह हुआ कि हवा का रुख पलटा। नवाब मुहसेन-उल्-मुल्क सैयद मेहदी ने देख लिया कि सर एंटोनी मेक्डानल्ड कोई भेंड़ें या तपाक में आ जाने वाला जीव नहीं है। वह बनरघुड़की का जवाब सिंह की दहाड़ से दे सकता है। निदान विवश हो कर उन्हें उसके सामने सिर झुकाना पड़ा और नागरी की धाक से सहम कर रह जाना पड़ा। नागरी भी कचहरियों में 'सौत' की तरह आने जाने लगी।

लार्ड कर्जन की कृपा से वह दिन भी आ गया कि बग-भंग हो गया और मुसलमानों को यह सच्चा पाठ पढ़ाया गया कि—

"तक़सीम बगालः से उनका मक़सद सिर्फ यह न था कि बगाल की गवर्नमेंट के इंतजामी बार को हल्का किया जाय बल्कि एक इसलामी सूबः बनाना था जिसमें मुसलमानों का गलबः हो" (रोशन मुस्तक़बल, वही, पृ० ३४९)

धीरे धीरे लार्ड कर्जन की नीति और दीक्षा का परिणाम यह हुआ कि ढाका के नवाब सलीम अल्लाह खां की कोशिश से उस मुसलिम संस्था की नींव पड़ी, जो आज 'मुसलिम लीग' के प्रिय नाम से प्रसिद्ध है और जिसके सर्वेसर्वा श्री मुहम्मद अली

न हो जायगी, गालिबन् हमारे दोस्तों का कोशिश म कमी न होगी। अब फरमाइए कि अगर इत्तहाद के बाज करने वाले यह चाहते हैं कि हम उनकी कोशिश का मुकाबिल न करे और अपनी जबान के क़ायम रखने के लिये भी उनके हमलों को दफा न करें और अपनी जबान के कायम रखने क लिये भी उनके हमलों को दफा न करें और अगर ऐसा करें तो हम इत्तहाद के दुश्मन और मुखालिफत के पैदा करने वाले समझे जायँ तो इस में कसूर हमारा है या हमारे दोस्तों का। ऐसा इत्तहाद तो वही शख्स चाहेगा जो अपनी कौमियत की मखसूस अलामत के तर्क करन की परवाह न करे, व लक यह कहना चाहिर कि अपनी कोम को दूसरी क़ौम में जज्ब हो जाने को इत्तहाद समझे। हम तो इसको इत्तहाद नहा समझते।" (तज़किरह मुहमेन पृ० १८३४)

अच्छा,यही सही। 'इत्तहाद' को इसी कसौटी पर 'उर्दू' को कसिए और देखिए कि उसमें कहाँ तक कोई और 'मखसूस अलामत' पाई जाती है। प्रसग लिपि का है अतएव पहले उसी पर विचार करना चाहिए। क्या उक्त नवाब साहब और उनके हमदर्द यह दावा पेश कर सकते हैं कि उर्दू खत जो आज भी पारसी या अरबी खत कहा जाता है, अरब या अजम स मुसलमान अपने साथ नहीं लाए, और क्या आज भी उसकी दुहाई इसालिये नहीं दी जा रही है कि वह मुसलमानों की मजहबी लिपि है और तमाम मुसलिम दुनिया में प्रचलित है?

क्या इसी मजहबी इम्तयाज की रक्षा और प्रचार के लिये ही आज हैदराबाद में लाखों रुपए पानी की तरह इसलिये नहीं बहाए जा रहे हैं कि किसी तरह उसके छापने में वह सहूलियत और वह सुभीता हो जाय जो उसकी 'सौत' नागरी में है? यदि हाँ, तो फिर नवाब साहब का यह प्रलाप कैसा? उनके दोस्तों का दोष क्या? यदि नहीं, तो हक क्या? सचाई और ईमानदारी की बात कैसी? असलियत का रोना और दोस्तों का मरसिया क्यों?

हो सकता है ज़बान के जोम और इम्तयाज के जोश में नवाब साहब को खत का खयाल न रहा हो और बुढ़ापे के कारण खत के सवाल को ज़बान की मसला बना लिया हो। इसलिये अब ज़बान पर ही गौर करना चाहिए। भाग्यवश हमारे सामने उर्दू के प्राण मौलाना डाक्टर अब्दुल हक की नजीर पेश है। जरा गौर से देखिए। उसमें कुछ पते की बात कही गई है। उनका कहना है—

"उस वक्त के किसी हिंदू मुसन्निफ की किताब को उठा कर देखिए। वही तर्ज तहरीर है और वही असलूब बयान है। इब्तदा में बिसमिल्लाह लिखता है। हम्द व नात व मन्कबत से शुरू करता है। शरई इस्तलाहात तो क्या हदीस व नस क़ुरान तक बेतकल्लुफ लिख जाता है। इन किताबों के मुतालः से किसी तरह मालूम नहीं हो सकता कि यह किसी मुसलमान की लिखी हुई नहीं।" (उर्दू, जनवरी सन् १९३३ ई० पृ० १४)

मतलब यह कि उस समय की उर्दू की किसी हिंदू किताब में हिंदू हिंदू नहीं रह गया, बल्कि वह पक्का मुसलमान हो गया और उसी के आधार पर दिलेरी के साथ सिद्ध किया गया कि उर्दू हिंदुओं की जबान है, मुल्की और न जाने कौन कौन सी जबान है। हो, पर इतना तो याद रहे कि वह उक्त नवाब साहब के न्याय मे इत्तहाद की चीज नहीं, क्योंकि उसमें कोई हिंदू-इम्तयाज नहीं; कोई हिंदुओं की 'मखसूस अलामत' नहीं। उसमें हिंदू इसलाम में 'जज्ब' हो गए हैं। अब आप ही फरमाइए कि बकौल नवाब साहब इसमें दोष किसका है? हमारा या हमारे दोस्तों का? क्यों हमारे दोस्त हमपर उस खत को लादना चाहते हैं जो हमारा नहीं, हमारे मुल्क का नहीं, बल्कि सरासर विलायती और बेजोड़ है। छापा और ज्ञान-प्रसार का शत्रु है। नाकिस और फसादी है। रही जबान और अदब की बात। सो उसके बारे में कहना ही क्या? मुसलमान बन जाने पर भी जबान की सनद आज तक किसी हिंदू को नसीब न हुई। शायद तमाम दुनिया में उर्दू ही एक ऐसी 'कुदरती' जबान है जिसके 'धनी' सिर्फ वही लोग हो सकते हैं जिनका लगाव उस 'कुदरत' से बिल्कुल बाहरी हो जो दर हकीकत उर्दू की माँ हो।

उर्दू के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि वह एक इम्तयाजी जबान है। उसकी जरूरत केवल इसलिये पड़ी कि फारसी अपनी मौत मर चली और हिंदी आगे बढ़ कर उसकी

जगह लेने लगी। इम्तयाजी लोगों ने इम्तयाज के लिये जो जवान ईजाद की वह उर्दू हुई। उर्दू ने सबसे पाक काम यह किया कि बिना किसी रोक टोक के हिंदुओं को मुसलमान बना लिया। उर्दू लिखते समय हिंदू खासे मुसलमान बन गए। अब जब नागरी या हिंदी का आंदोलन चला तब बहुत से ऐसे मुसलमान हिंदू नजर आने लगे और 'गणेश' और 'बजरग-बली' का गुणगान करने लगे। उनका यह काफिराना रंग उनके लोगों को असह्य हो गया और उन्हें विवश हो यह प्रयत्न करना पड़ा कि मुई नागरी को कहीं जगह न मिले और बी उर्दू सब को मुसलिम बनाती फिरें।

हाँ, तो बड़े लाट साहब ने बी उर्दू की फरियाद को फसाद समझा और उनके सिर पर 'सौत' को बहाल रखा। बी उर्दू ने बहुत कुछ ताव भाव से काम लिया, पर आखिर में—

"मजबूर होकर हिजरत की ठानी। लेकिन जाये तो कहाँ जाये? हिंदुस्तान से बाहर तो कोई इसका रवादार नजर ही न आया। अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, अरबिस्तान, ईरान व तूरान भला क्यों उसको अपने आज़ाद मुल्क मे दाखिल होने देते और उसकी गुलामान. बेहूनियत से अपने मुल्क की आजादफज़ा खराब करते। उसके लिये न जाय रफ्तन और न जाय मांदन का मिसदाक था। आखिर बड़े सोच विचार के बाद खयाल आया कि किल. मुअल्ला का साकिन परदाख्त एक खान्दान अरसः हुआ कि जनूबी हिंदुस्तान चला गया था। उस खान्दान

का कोई न कोई फर्द जरूर होगा। कितनी ही मुगायरत क्यों न हो, आखिर एक खून है, क्या तअज्जुब है कि इसी रिश्तः से पहचान कर इस अड़े वक्त में काम आ जाये। आखिरकार वहाँ ताजदार दकन का बड़ा घराना: मिल गया। शाही शान वो शौकत और कर्र वो फर्र से इस्तकबाल हुआ कुनबों की बिछुड़ी गले मिलीं। हाथों हाथ लिया और बड़ी आव-भगत से शाही मेहमान किया। इसने भी अपनी सारी दर्दभरी दास्तान कह सुनाई और जो जो तकलीफ अपनों और परायों से उसको पहुँची थीं वह भी सब बयान कर दी उसके क़दरदान मेज़बान ने उसकी बड़ी तसल्ली की। उसके कयाम के लिये जामः उस-मानियः नामी नया महल लाखों रुपया सर्फ कर के तैयार कराया और ख़िदमत के लिये तमाम हिंदुस्तान के बेहतरीन मुअल्लिम और उस्तादान फन बड़े बड़े मुशाहिरों पर मुकर्रर किए गए। किबः मुअल्ला की तहज़ीब पर निजामशाही तरतीब ने सोने पर सुहागे का काम दिया। और आखिर चंद ही साल में उर्दू ने इस क़दर हर दिल अज़ीज़ी हासिल कर ली कि परदेस को भी देस ही बना लिया। वह लोग जो टामिल, टेलगू, मलायालम, कनारी और न मालूम क्या क्या बोलियाँ बोला करते थे, सब अपनी अपनी बोलियाँ भूल गए और उर्दू के ही गिरवीदह हो गए, और सबने मिलकर उसको अपना मादरी ज़बान तसलीम कर लिया और इस तरह इस मुहाजिर को दकनी अंसार ने हर तरह की मदद दी। वहाँ तमाम दफ्तरी काररवा-

दर्यां, गुफ़्तगू, तहरीर वो तक़रीर, ख़त वो किताबत, लेनदेन, गर्ज सब ही कुछ उर्दू में होने लगा। तसानीफ़, तालीफ़ात, तराजिम का बेशबहा जख़ीरह थोडे ही अरसः में जमा हो गया। कल कोई चीज यूरप से 'अपटू डेट' आई और उसने उसको शेरवानी पहनाई।"

(अलीगढ़ मैगजीन, तालीमात नबर, सन् १९३७ ई० पृ० १०८)

इस 'आवभगत' और 'शेरवानी पहनाने' का नतीजा यह हुआ कि —

"जो उर्दू क़ुतुबशाहियों के बाद से डेढ़ सदी तक करीब करीब एक हाल पर बाक़ी थी रुबा सदी के अदर ऐसी मुश्किल हो गई कि अगर पचास साल कब्ल का कोई हैदराबादी शाइर या मुसन्निफ जिंदह हो जाय तो वह अपने जानशीनों की ओर अपनी जबान में कई गुनः फ़र्क़ महसूस करे" (अहद उसमानी में उर्दू की तरक्की, आजम इस्टीम प्रेस, हैदराबाद दकन, सन् १९३४ ई० पृ० १४८-९)

डाक्टर बादरी के उक्त निष्कर्ष से स्पष्ट है कि वहाँ की प्राचीन भाषा जान बूझ कर कुछ ऐसी बनाई जा रही है जो प्रतिदिन परपरा से प्रतिकूल पडती जा रही है। यहाँ हमें भाषा की इस अदिदा या विलायती प्रवृत्ति पर विचार करने का अवसर नहीं है हैदराबाद के विषय में अभी मौन रहने की ही जरूरत है। उसका जो कहीं कहीं उल्लेख भर कर दिया गया है

वह केवल यह दिखाने के लिये कि उर्दू आज भी किस तरह शाही जोर के आधार पर 'मुल्की' या 'मुश्तरक' क्या 'मादरी जबान' तक बनाई जा रही है और देश की सच्ची भाषाएँ दिन दहाडे बेमौत मारी जा रही हैं। दुनिया मे शायद हैदराबाद ही वह राज्य है जहाँ देश की सच्ची देशभाषाओं में शिक्षा देना अपराध गिना जाता ह और प्रजा की जबान को मारने की पूरी कोशिश की जाती है। जो लोग हैदराबाद की सरकारी और दफ्तरी जबान की कहानी से वाकिफ हैं उन्हें इस बात का पूरा पूरा पता है कि फारसी के साथ ही साथ मराठी और तिलगी भी वहाँ के दफ्तरों में बराबर चलती रहीं। हाँ, फारसी की जगह उर्दू के बस जाने का नतीजा यह हुआ कि मराठी, तिलगी आदि देशभाषाएँ दफ्तर से कान पकड बाहर ही नहीं की गई बल्कि अब घर के भीतर भी उनका पढन पढ़ाना अपराध हो गया और वह दिन दूर न रहा जब उनका नाम लेना भी हराम समझा जायगा। कारण प्रत्यक्ष है। उर्दू अपने आप बढ़ नहीं सकती। उसके पलने के लिये देशभाषाओं का शिकार आवश्यक है। यह शिकार सदा से शासकों के हाथ होता आ रहा है और फलत तब तक होता रहेगा जब तक शासक इस पुण्यदेश के पक्के पालक नहीं बन जाते और इस भूमि के गौरव को अपना गौरव नहीं समझते।

नवाब साहब के जिस इत्तहाद को लेकर हम इतना बढ गए हैं उसकी दृष्टि से हैदराबादी उर्दू पर ध्यान देने से पता

चलता है कि वहाँ से भी हिंदू-इम्तयाज अथवा हिंदुत्व को विदाई मिल रही है और वहाँ भी हिंदुओं की कोई खास खसूमियत नजर नहीं आती। जनाब डाक्टर कादिरी साहब ने इस बात की भरपूर कोशिश की है कि कहीं हिंदुओं या किसी अन्य संप्रदाय या राष्ट्र के प्राणी को इस बात का पता न हो जाय कि उर्दू एक इम्तयाजी या तबलीगी जबान है। फिर भी सच्ची बात उनके मुँह से निकल ही पड़ती है कि "बाज दफा तो बमुश्किल इम्तयाज़ किया जा सकता है" कि लेखक हिंदू है या मुसलमान। क्यों नहीं? आखिर उर्दू है भी तो 'मुल्की' और 'मादरी' जबान। जब मुल्क में हिंदू ही नहीं रहे तो उनकी 'इम्तयाज़' या खसूसियत ही क्या? उर्दू के अदब में उनकी अलग सत्ता ही क्या?

पाठकों से अब यह कहने की आवश्यकता न रही कि क्यों उक्त नवाब साहब की दृष्टि में उर्दू के "कायम रहने में हिंदुओं का कुछ हर्ज नहीं है और उसके न क़ायम रहने में मुसलमानों का सख्त नुकसान है।" पर विचारणीय बात यह नहीं है कि किससे हिंदुओं का हित और किससे मुसलमानों का अहित हो रहा है। प्रत्युत विषय तो यह है कि किससे जनता का लाभ हो रहा है। किस भाषा तथा किस लिपि से जनता का सहज संबंध है और किस भाषा तथा किस लिपि में ज्ञान-प्रसार की सहज क्षमता है। इस राष्ट्र तथा लोकहित के सीधे सादे प्रश्न को मजहबी बना कर अपना पेट भरना किसी भी मजहब को

बदनाम करना है। मजहब दुनिया की एक बहुत पुरानी चीज है। उसको लेकर एक नया फसाद तभी तक खड़ा किया जा सकता है जब तक उसका सच्चा स्वरूप जनता के सामने अच्छी तरह नहीं आ जाता और वह उसे अपने ज्ञान-नेत्रों से भली भाँति नहीं देख लेती। निदान उसकी मूढ़ता और मजहबी जोश से फायदा उठाने के लिये अनिवार्य है कि उसको 'भाषा' और 'लिपि' की ऐसी भूल भुलैया में गुमराह कर सके जिसका कुछ पता ही न हो। अतएव यदि यहाँ सच्ची लोकभाषा और सच्ची लोकलिपि का विरोध हो रहा है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि हमने रात को रात और दिन को दिन कहने का भी साहस न रहा और 'मजहब' के लांछन अथवा पापड़ के दानव से इतना भयभीत हो उठे कि सत्याग्रह तो दूर रहा, सत्य का नाम लेना भी छोड़ दिया। अच्छा, यही सही। पर दुःख तो यह देख कर होता है कि हम से चुप भी नहीं रहा जाता और हम सत्यनिष्ठ होने की सनद बटोरने के लिये पक्के सत्य-द्रोही बन जाते हैं। रात को दिन और दिन को रात बता कर पूज्य बनना चाहते हैं। फिर रोते यह हैं कि राष्ट्र रसातल को जा रहा है। भई, रोने से काम न चलेगा। राष्ट्र के मंगल के लिये रोग का निदान करना पड़ेगा और बकौल नवाब मुहसेन-उल-मुल्क साहब—

"क्या आप समझ सकते हैं कि किसी के जिगर में फोड़ा हो और वह अंदर ही अंदर बढ़ता और फैलता जाता हो, पीब

पड़ रही हो उसे कोई रेशमी और खुशनुमा कपड़ा रख देने से अच्छा कर सकता और उसका दर्द दूर कर सकता है? उसके लिये जरूरत इस बात की, है कि फोड़ा चीरा जाय, उसकी आलायिश निकाली जाय और फिर उस पर मरहम रखा जाय।"
(तजकिरह मुहसेन, वही० पृ० १८४)

अफसोस! कि आज हममें से लाखों उस घातक फोड़े पर प्रमादवश, व्यामोह के कारण उसी 'रेशमी और खुशनुमा कपड़े' को रख रहे हैं और सोचते यह हैं कि उसी से वह चंगा हो जायगा। आइए, हम आप इस प्रलोभन से बच कर, हृदय को कुछ कड़ा कर, निहायत हमदर्दी पर दिलेरी के साथ उस सदियों से जमे घातक फोड़े को चीरें और इधर उधर से अच्छी तरह दबा दबा कर उसके सारे मवाद को एक दम निकाल फेंकें और फिर मुहब्बत के मरहम से उस घाव को मजे में खूब भर दें और जरा सा भी कहीं चोर न रह जाने दें। याद रहे, यदि हम झूठे स्नेह और हृदय की दुर्बल उदारता के कारण यह कठोर पर अति अनिवार्य कार्य न कर सके और व्यर्थ के दिखाऊ प्रेम के शिकार हो गए तो हमारा नाश निश्चित है। हम कभी स्वप्न में भी अच्छी तरह फल फूल नहीं सकते। मन-बहलाव के लिये चाहे कुछ दमक लें पर, अंत में दिवालिया ही नजर आएँगे। फिर विवश हो हमको वही करना पड़ेगा जिसके करने से आज हम इस तरह जी चुरा रहे हैं और कायरतावश धर्म को द्वेष समझते हैं। अरे उस धर्म को द्वेष

मझ कर ठुकरा रहे हैं जिसमें राष्ट्र का सच्चा अभ्युदय और
श का कल्याण छिपा है !

प्रत्यक्ष है कि नीतिवश अथवा प्रजा के हित की कामना से
अँगरेजी सरकार धीरे धीरे पका कर उस घातक फोड़े को फोड़
रही थी और इस बात की बराबर चिंता रखती थी कि कहीं उसके
विस्फोट से उसका विनाश न हो जाय। पर हमारे दोस्तों पर
कुछ ऐसी सनक सवार थी कि वे उस फोड़े को अपना प्राण
समझते थे और कहीं से जरा भी उस पर आँच आने देना नहीं
चाहते थे। निदान उन्होंने सर एंटोनी मैकडानल्ड के उपचार
का भी विरोध किया। सर एंटोनी सामान्य जीव न थे जो
उनकी भभक में आ जाते और अपना नश्तर न चलाते। चीरने
को तो उन्होंने उक्त फोड़ा चीर दिया पर नीतिवश उसमें मवाद
रह जाने दिया और बनावटी उदारता दिखाने के लिये उसमें
गहरी बत्ती भी न दी। फल यह हुआ कि वह और भी घातक
सिद्ध हुआ। विष से अच्छी तरह भर गया।

अब मुसलमानों को यह विश्वास हो गया कि किताबी
होने के नाते वे अँगरेजों के समकक्ष नहीं हो सकते। अपनी
रक्षा के लिये हमें कुछ और उपाय करना चाहिए। भाग्यवश
काँगरेसी मंडल में एकता की तान छिड़ चुकी थी और उधर
किताबियों के पवित्र हाथों से पाक स्थानों तथा मुसलिम देशों
पर आक्रमण हो रहे थे। निदान मुसलिम लीग के सिक्रेटरी
"सैयद वजीर हसन साहब ने इस मजमून की एक गश्ती चिट्ठी

जारी की कि लीग के मक़ासिद में 'हिंदुओं से हुस्न ताल्लुक़ात' और 'सेल्फ गवर्नमेंट' के अल्फ़ाज़ का एज़ाफ़ः किया जाय।"
(रोशन मुस्तक़बल, वही, पृ० ३७२)

सन् १९१२ की इस लीगी हरकत में 'खिलाफत' आंदोलन ने जो योग दिया अभी वह कल की टटकी चीज है। कितनी हिंदू ललनाओं के हाथ आज भी सोने की चूड़ियों से खाली हैं और उनके दान का गुणगान सारा सच्चा मुसलिम हृदय कर रहा है। पर इम्तयाज़ी लोगों को यह एकता खली। उधर स्वतंत्र तुर्कों ने कोरा जवाब दे दिया और अपने राष्ट्र के उदय तथा कल्याण के लिये पहले 'खलीफा' को साफ किया और फिर मजहबी हरूफ (?) याने अरबी को। अरबी अक्षरों की ज्ञान-शत्रुता को देख कर और अपने को यूरप के अन्य उन्नत राष्ट्रों के समकक्ष बनाने के लिये 'लातनी' अक्षरों को अपना कर तुर्कों ने स्पष्ट कर दिया कि उनका लक्ष्य क्या है, किस प्रकार वे मजहब को लीक की पाबंदी या सनकपरस्ती नहीं, बल्कि उसे कल्याण और मंगल का द्योतक समझते हैं।

काँगरेस के प्रभुत्व में आ जाने का परिणाम यह हुआ कि एक सच्ची राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पड़ी। 'राष्ट्रभाषा की परंपरा' नामक निबंध में यह स्पष्ट करने की कुछ चेष्टा की गई है कि वास्तव में वह राष्ट्रभाषा हिंदी ही थी जो मुसलिम शासन में भी अपनी इस मर्यादा पर आरूढ़ रही। साथ ही इस निबंध में भी साफ सिद्ध कर दिया गया है कि आरंभ में कंपनी सरकार

ने भी इसी हिंदी भाषा और इसी नागरी लिपि को राष्ट्र या कम से कम ठेठ हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपि माना, पर कांगरेस के नेताओं ने व्यामोहवश स्पष्टरूप से नागरी भाषा तथा नागरी लिपि को राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार न किया, बल्कि उसके साथ एक 'हिंदुस्तानी' का धूमकेतु लगा दिया।

'हिंदुस्तानी' नामक लेख में (विशाल भारत, फरवरी सन् १९३९ ई०) हम देख चुके हैं कि 'हिंदुस्तानी' की 'भूल-भुलैया' में हमारे नेता किस तरह गुमराह होते जा रहे हैं और क्यों केवल नागरी को राष्ट्रलिपि नहीं मानते। बात यह है कि उनपर लीग का मजहबी हौवा इस कदर सवार है कि उनको किसी तरह चैन नहीं लेने देता और उन्हें वह फल चखने के लिये मजबूर करता है जिसका निषेध उनकी आत्मा की ओर से हो चुका है। पर करें क्या? उनको इस बात का पता नहीं है कि—

"लीग का संग अव्वलीन शिमल: डेपूटेशन था और अब आइंदह जो कुछ उसका नज़ाम बनाया जाय, शिमल: डेपूटेशन की रूह उसमें मौजूद रहेगी। लीग की बुनियाद को पहली ईंट टेढ़ी रखी गई। उसपर जो इमारत बनाई जायगी टेढ़ी ही होगी।" (रोशन मुस्तक़बिल वही, पृ० ३९८ पर अवतरित)

साथ ही यह भी याद रहे कि—

"हुकूमत से तहज़ीब और ज़बान की हिफाज़त कराने का

मुतालिबः उस क़लील अँगरेज़ी पढ़ी हुई जमाअत की तरफ़ से उठाया गया है जो क़दीम लिबास और तमद्दुन का मज़हक़ः उड़ाया करती थी और जिसका निस्बत माबिक़ में यह अर्ज़ किया गया है कि अव्वल खुद उसने अपनी मुआसिरत और ज़बान को छोड़कर अहल यूरप की मुआसिरत और ज़बान एख़्तयार का। आइंदह ज़मानः में अगर अंदेशः है तो इसी जमाअत से है कि वह हिंदुओं के उरूज के ज़मानः में कहीं हिंदुआनी लिबास और ज़बान एख़्तयार न कर ले। ताहम अगर हुकूमत ही से इन अमूर की हिफ़ाज़त करानी है तो वह ज़बान अरबी है जो मुसलमानों की मज़हबी ज़बान है और जिसमें वह इबादत करते हैं।" (रोशन मुस्तक़बिल, वही, पृ० ५५१-२)

बेशक अरबी मुसलमानों की मज़हबी ज़बान है और मज़हब के नाते उसी की पैरवी होनी चाहिए। लेकिन यहाँ पैरवी की जा रही है 'इम्तयाज़ी' ज़बान उर्दू की। उस उर्दू का जिसकी टकसाल सुदूर दक्षिण में कायम की गई है और जिसके पेशवा आज मौलाना डाक्टर अब्दुल हक़ हो रहे हैं। क्यों न हो, आख़िर लीगी लोग तो अरबी पढ़ मुल्ला बनने से रहे, फिर अरबी के लिये जान क्यों दें? रही उर्दू की बात। उसकी हिमायत का रहस्य यह है कि उसके द्वारा जनता को उभारा जा सकता है। उसके आधार पर तरह तरह के फ़साद बरपा किए जा सकते हैं। उसको 'मुल्की' और 'मादरी' ज़बान कहा जा

हमारी सच्ची देशभाषा है, या वह यही जबान है जो मौलाना हसन निजामी, मौलाना सैयद सुलैमान नदवी या मौलाना अबुल कलाम आजाद के मुँह से निकलती है। जब उक्त आलिमों और मजहबी पेशवाओं की जबान भी कचहरी की जबान—यदि कही जा सकती है—से कहीं अधिक सरल और सुबोध होती है तब कचहरी की जबान को मुल्क की जबान कहना और मजहब के मुलम्मा में उसे सर्वसुगम बना देना जादू नहीं, छूमंतर नहीं और चाहे जो हो। उसे मजहबी लोग जानें। हमें तो राष्ट्र की सच्ची हित-कामना और देश के जन जन के मंगल के लिये स्पष्ट कह देना है कि यदि काँगरेस तथा सरकार कचहरी की भाषा को सरल न कर उलटे उस लिपि का प्रचार करती है जो छापा तथा विद्या की वैरिन है, तो यह देश का दुर्भाग्य है जो इस प्रकार सत्य तथा निरीह जनता से विधाताओं को विरत कर उन्हें हमारा कृतांत बना रहा है और हमारी सत्यनिष्ठा को रसातल भेजता जा रहा है।

काँगरेस सरकार के 'रामराज्य' की दशा तो और भी निराली है। उसकी समझ में अभी यही नहीं आ सका कि जो लिपि मजहबी होने पर भी तुर्कों के उत्थान तथा उदय में बाधक है वही समूचे भारत के लिये मंगलप्रद क्यों है। यदि इसका एक मात्र कारण यही है कि उसके द्वारा 'आसमान की बादशाहत' जमीन पर आ जायगी और हम खुदा के कहर से बच जायँगे तो ठीक है। नहीं तो हमारा कहना है कि काँगरेस पहले लिपि

सकता है। संक्षेप में, उसके नाम पर शान से रोटी नसीब हो सकती है और आसानी से लीडरों का लीडर और लीडरों का लाडर बना जा सकता है। बस यही है उर्दूपरस्ती का वह रहस्य जो न जाने कितने दिनों तक इस अभागे देश में 'मजहब' के नाम से याद किया जायगा और समूचे मुल्क में फसाद बोता फिरेगा।

माना कि अरबी जबान की तरह अरबी लिपि की भी हिफाजत होनी चाहिए, पर अरबी जबान के साथ न? या हिंदी और हिंद की सभी जबानों के साथ! यह तो न्याय नहीं, इंसाफ नहीं, हक नहीं, मजहब या दीन नहीं, केवल हठधर्मी या पाखंड है। सिर्फ फसाद और खुराफात है। इसीलिये हम कहते हैं कि 'जबान' और 'खत' के सवाल को मजहबी रंग न दो। जान बूझ कर उसे 'सयासी' न बनाओ। शुद्ध भाषा और ज्ञान प्रचार की दृष्टि से उनपर विचार करो और फिर देखो कि हमारा पक्ष क्या है। हम क्यों नागरी का प्रचार कचहरियों में भी देखना चाहते हैं? क्या 'मुसलमानों की निशानी' मिटाने के लिये? नहीं, हरगिज नहीं। उन्हें भी कचहरी के कीड़ों तथा भ्रमजाल से बचाने के लिये। उन्हें भी शीघ्र साक्षर और हमदर्द बनाने के लिये। रही कचहरी की भाषा की बात, भला कौन सा सच्चा हकपरस्त ऐसा है जो दिल पर हाथ रख कर साफ साफ दिलेरी के साथ आज भी कह सके कि सचमुच कचहरी की भाषा

हमारी सच्ची देशभाषा है; या वह वही जबान है जो मौलाना हसन निजामी, मौलाना सैयद सुलैमान नदवी या मौलाना अबुल कलाम आजाद के मुँह से निकलती है। जब उक्त आलिमों और मजहबी पेशवाओं की जबान भी कचहरी की जबान—यदि कही जा सकती है—से कहीं अधिक सरल और सुबोध होती है तब कचहरी की जबान को मुल्क की जबान कहना और मजहब के मुलम्मा से उसे सर्वसुगम बना देना जादू नहीं, छूमंतर नहीं और चाहे जो हो। उसे मजहबी लोग जानें। हमें तो राष्ट्र की सच्ची हित-कामना और देश के जन जन के मंगल के लिये स्पष्ट कह देना है कि यदि काँगरेस तथा सरकार कचहरी की भाषा को सरल न कर उलटे उस लिपि का प्रचार करती है जो छापा तथा विद्या की बैरिन है, तो यह देश का दुर्भाग्य है जो इस प्रकार सत्य तथा निरीह जनता में विधाताओं को विरत कर उन्हें हमारा कृतांत बना रहा है और हमारी सत्यनिष्ठा को रसातल भेजता जा रहा है।

काँगरेस सरकार के 'रामराज्य' की दशा तो और भी निराली है। उसकी समझ में अभी यही नहीं आ सका कि जो लिपि मजहबी होने पर भी तुर्कों के उत्थान तथा उदय में बाधक है वही समूचे भारत के लिये मंगलप्रद क्यों है। यदि इसका एक-मात्र कारण यही है कि उसके द्वारा 'आसमान की बादशाहत' जमीन पर आ जायगी और हम खुदा के कहर से बच जायंगे तो ठीक है। नहीं तो हमारा कहना है कि काँगरेस पहले लिपि

का प्रश्न हल करे और फिर जबान की ओर अपना कदम बढ़ाए। समझ में नहीं आता कि लिपि की दोहरी नाति तो लोगों को नहीं खलती पर भाषा की दोहरी धारा दोस्तों को बेतरह खिचका क्यों देती है।

आखिर हिंदुस्तानी के लिये यह तूफान क्यों? बात यह है कि जिन परिस्थितियों के कारण कभी 'खुशबयान' लोगों को एक नई जबान ईजाद करने की जरूरत महसूस हुई और 'इम्तयाज' के लिये फारसी की जगह उर्दू जारी कर दी गई उन्हीं परिस्थितियों के कारण आज 'उर्दू' की जगह किसी 'हिंदुस्तानी' की जरूरत पड़ रही है। कारण प्रत्यक्ष है। उस समय 'दरबार' की प्रतिष्ठा थी। राजभक्ति को ईशभक्ति का अंग समझा जाता था। इसलिए दरबारी जबान शाही जबान की जगह चट से चालू हो गई। पर आज जमाना है प्रजा का। अब प्रजाभक्ति को ही ईशभक्ति का साधन समझा जाता है। अतएव 'हिंदुस्तानी' प्रजा के लिये 'हिंदुस्तानी' का राग गाया जा रहा है। परंतु भयंकर अड़चन यह आ पड़ी है कि हिंदुस्तानियों की भाषा तथा लिपि है हिंदी—वह हिंदी जो सदा से यहाँ का राष्ट्र-भाषा तथा राष्ट्रलिपि रहा है और फलतः आज है भी। अब इसे प्रमाण कर इम्तयाजी लोग अपनी इम्तयाजी सत्ता को नष्ट कैसे करें! जीते जी जयी होकर विजितों में कैसे मिलें? लिपि को लेकर फसाद खड़ा करना साफ हिमाकत होगी। मेल के लिये गुंजायश नहीं। रही जबान की बात। उसको लेकर तरह

तरह के सुराफात किए जा सकते हैं और किसी न किसी तरह उर्दू 'हिंदुस्तानी' के रूप में 'मुल्की ज़बान' कायम की जा सकती है।

यहाँ सवाल उठता है कि वह 'मुल्की ज़बान' कैद में किसकी रहे। जवाब निहायत आसान है। उन्हीं 'खुशबयान' लोगों के हाथ में जो यहाँ की भाषा-परंपरा से सर्वथा अनभिज्ञ हों और राष्ट्रभाषा 'हिंदी' को राक्षसों या जिन्नात की जबान समझते हों। बिहार की न्यायनिष्ठ काँगरेसी सरकार ने एक ऐसे ही हक़परस्त के हाथ में हिंदुस्तानी डिक्शनरी का भार सौंप दिया है जो जन्म भर हिंदी को कोसते रहे हैं और उधर बुढ़ापे में कुछ दिनों से वह जौहर दिखा रहे हैं जिसकी खबर राष्ट्र के फरिश्तों तक को नहीं है। बेचारे करें क्या? राजनीति की कूट चालों को देखें या जबान के नित नए जंजालों को?

खैर। अब हम अंत में केवल यही निवेदन कर देना चाहते हैं कि जो नागरी लिपि संसार की समस्त लिपियों में श्रेष्ठ है और जो बकौल मिर्ज़ा इरफान अलीबेग उर्दू पढ़े लोगों को 'सात ही दिन में आ जाती है' उसकी अवहेलना कर कचहरियों में एक ऐसी लिपि को इज्जत देना जिसका लिखना पढ़ना सभी सभी दृष्टियों से कठिन और विद्याप्रचार के विचार से सर्वथा हानिकर है, किसी प्रकार भी अक्लमंदी का काम नहीं कहा जा सकता। जिस सरल राष्ट्रभाषा हिंदी का अधिकार मुसलमान बादशाहों और कंपनी सरकार ने भी स्वीकार कर उसे अपनी

कचहरियों और दफ्तरों में स्थान दिया था। उसकी जगह एक विचित्र और अजनबी जबान को जो असल में कहीं की जबान ही नहीं है, जबर्दस्ती चलाए जाना निस्सदेह राष्ट्र की एकता तथा गरीब जनता के हित पर जान बूझ कर कुल्हाडा चलाना है। सरकार तथा देश के हितैषी नेताओं को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए और स्वय भ्रम में पड कर तथा जनता को भ्रम मे डाल कर न्याय को सर्वदा के लिए विदा नहीं कर देना